पञ्चोली-पुस्तकमाला का प्रथम पुष्प—

हिन्दी अनुवाद सहित

आचार्य श्री विज्ञानभिक्षुप्रणीत

सांख्यसार

अनुवादक :

लब्धस्वर्णपदक

डा० बदरी नारायण पञ्चोली

वेद-वेदान्त-साहित्य-धर्मशास्त्र-पुराणेतिहास-सांख्ययोगाचार्य

-साहित्य-रत्न, साहित्यालंकार।

वारिधि (पी-एच० डी०)

ाचक व विभागाध्यक्ष :

ास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ,

१०७१ ्यासराय नई दिल्ली-१६

21185

प्रकाशक :

पञ्चोली पुस्तकमाला प्रकाशन समिति

प्रणव-निवास

१४११ बी/१३, गोविन्दपुरी, नई दिल्ली-१६

M
(9) 9

Free of cost

21185

RASHT
RAJ
ACC.NO
CALL.NO

पञ्चोली-पुस्तकमाला का प्रथम पुष्प—

हिन्दी अनुवाद सहित

आचार्य श्री विज्ञानभिक्षुप्रणीत

सांख्यसार

अनुवादक :
लब्धस्वर्णपदक
डा० बदरी नारायण पञ्चोली
वेद-वेदान्त-साहित्य-धर्मशास्त्र-पुराणेतिहास-सांख्ययोगाचार्य
काव्य तीर्थ, दर्शन-साहित्य-रत्न, साहित्यालंकार।
एम०ए० विद्यावारिधि (पी-एच० डी०)
दर्शन प्रवाचक व विभागाध्यक्ष :
श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ,
कठवाडियासराय नई दिल्ली-१६

प्रकाशक :
पञ्चोली पुस्तकमाला प्रकाशन समिति
प्रणव-निवास
१४११ बी/१३, गोविन्दपुरी, नई दिल्ली-१९

समर्पण

परमे ज्योतिषि लीनाय
प्रेष्ठाय प्रणवाय ते !
मम सर्वस्वभूताय
प्रथमम्पुष्पमर्पये ॥

R631

पुस्तकालय संस्करण : ६०/- साठ रुपये मात्र
तत्त्वजिज्ञासु एवं छात्र संस्करण : ४५/- पैंतालीस रुपये मात्र

मुद्रक :
श्याम कम्पोजिंग द्वारा डी-१५८, न्यू सीलमपुर
पराशर प्रिंटर्स, जे-१७, नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२ से मुद्रित

प्रणवाभिवन्दनम्

परात्मने प्रणवाय जगत्त्रयहितैषिणे ।
आविर्भूय विलीनाय प्रादुर्भावाय ते नुमः ॥१॥
जनुषा ते वयं जाताः ह्लादपूर्णाः समे जनाः ।
विलीने त्वयि रोदिमो प्रादुर्भावाय ते नुमः ॥२॥
पारमार्थिकभावेन नाविर्भावलयौ स्मृतौ ।
व्यवहारे वर्त्तमानाः प्रादुर्भावाय ते नुमः ॥३॥
दीर्घकालं भृशं तप्त्वा दर्शनानि कृतानि ते ।
तानि भूयश्चेहमानाः प्रादुर्भावाय ते नुमः ॥४॥
न ते माता पिता नैव परमार्थदृशा क्वचित् ।
तथापि स्नेहसन्तप्ताः प्रादुर्भावाय ते नुमः ॥५॥
सदसतोर्विवेकाय सदसद्व्यक्तिहेतवे ।
प्रणवाय परेशाय प्रादुर्भावाय ते नुमः ॥६॥
सर्वस्वरूपव्यक्ताय अव्यक्ताय सदात्मने ।
शरण्याय दयार्द्राय प्रादुर्भावाय ते नुमः ॥७॥
दुःखत्रयविघाताय सर्वदुःखविनाशिने ।
सर्वस्वाय समर्थाय प्रादुर्भावाय ते नुमः ॥८॥
अहर्निशं चिन्तयामो त्वामेव परमं धनम् ।
आगमिष्यति नूनं त्वं प्रादुर्भावाय ते नुमः ॥९॥
प्रणवस्त्वं परेशोऽसि किन्तेऽक्षमं वदस्व मे ।
नास्त्यक्षमं किमप्यत्र प्रादुर्भावाय ते नुमः ॥१०॥
धर्मार्थकाममोक्षाख्याः पुरुषार्थाः प्रकीर्त्तिताः ।
साधय पुरुषार्थान्नः प्रादुर्भावाय ते नुमः ॥११॥
श्रुतिस्मृतिपुराणेषु सर्वत्र प्रथितोऽसि भो ।
वाचकः प्रणवस्तेऽस्ति प्रादुर्भावाय ते नुमः ॥१२॥
कृपालुता सदा दृष्टा त्वयि सर्वैः समन्ततः ।
तामेव चेहमानाः स्मो प्रादुर्भावाय ते नुमः ॥१३॥
अनन्यभावमापन्नाः भक्तास्ते त्वयि निर्भराः ।
त्वामेव प्रार्थयामो वै प्रादुर्भावाय ते नुमः ॥१४॥
विश्वसिमो दृढं सर्वे सर्वथा त्वयि भावुकाः ।
विश्वासं सफलीकुर्याः प्रादुर्भावाय ते नुमः ॥१५॥
येन केनाप्युपायेन दर्शनानि प्रदेहि नः ।
त्वां विना नैव भातीदं प्रादुर्भावाय ते नुमः ॥१६॥

॥ श्री ॥

गुरुजनाभिवन्दना

अवर्णतः समारभ्य शोधपर्य्यन्तशिक्षकाः ।
गुरवोऽत्र वन्द्यन्ते ज्ञानानन्दप्रदायकाः ॥

अखिल भारतीय संस्कृत विद्यापीठ दिल्ली में शोधमार्ग निर्देशक शिक्षक एवं प्रशिक्षक गुरुजन डॉ० मण्डन मिश्र जी, म० म० पं० परमेश्वरानन्द जी शास्त्री, पण्डितमार्त्तण्ड, श्री हनुमत्प्रसादजी शास्त्री, विद्यावाचस्पति श्री अमीर चन्द्र जी शास्त्री, श्री श्रीधर जी वासिष्ट, श्री सुवालाल जी उपाध्याय श्री रामस्वामी जी प्रभृति, महाराणा संस्कृत कॉलेज उदयपुर में शिक्षा प्रदाता श्री खड्गनाथ जी मिश्र, श्री लक्ष्मी नारायण जी पुरोहित श्रीरामसुख जी पंचोली श्री बिहारीलालजी दशोरा, श्री कालीदासजी, श्रीचम्पालालजी शास्त्री श्री हरिकृष्ण जी गोस्वामी प्रभृति, मा० ब्रा० सँ० म० वि० अकोला में पं० भवानी शंकर जी शास्त्री मा० सँ० म० वि० शेलू वाजार में पं० रामावतार जी शास्त्री, गोविन्द संस्कृत पाठशाला जावरा में पं० केशव प्रसाद जी शास्त्री मुनिकुल ब्रह्मचर्याश्रम वरूँदनी में पं० रामगोपालजी भट्ट, प्राथमिक पाठशाला वरूँदनी में पं० गिरधारी लाल जी श्री हरिवल्लभ जी उपाध्याय श्री अर्जुन देव जी श्री धनेश्वर जी श्री नन्द लाल जी प्रभृति निखिल गुरूजनों का अनुपमेय वात्सल्यपूर्वक जो वरदहस्त प्राप्त रहा एवं प्राप्त है तदर्थ कोटिशः प्रणामपूर्वक अपनी कृतज्ञता समभिव्यक्त करता हूं; क्योंकि मैं गुरुजनों की शुभाशीश के अतिरिक्त अपना कोई अस्तित्व नहीं मानता ।

"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्" के अनुसार यदि शरीर ही न होता तो न अध्ययन होता और न कोई प्रगति ही सम्भव थी । अतः इस शरीर के तथा इस शरीरस्थ व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास में निमित्तभूत पूज्य प्रवर पितृवर श्री ओंकार लाल जी पूज्यवर्या जननी श्रीमती दमयन्ती देवी जी पितृव्य श्री मांगीलाल जी श्री लादूलाल जी श्री कन्हैया लाल जी श्रीमती नर्मदा देवी प्रभृति पितृव्यावर्ग, ज्येष्ठावुत्त श्री पुरुषोत्तम जी श्री मोहन लाल जी श्रीवंशीलाल जी, ज्येष्ठ भगिनी श्री मनोहर देवी जी श्रीमती रामसुखी देवी जी श्री शान्ता देवी जी, ज्येष्ठ भ्रातृवर श्री हरिशंकर जी श्री तुलसीरामजी श्री रामकुमार जी श्री लक्ष्मी नारायण जी, ज्येष्ठ भ्रातृजाया श्रीमती अनूपदेवी जी श्रीमती धन्ना देवी जी, श्रीमती एजन देवी जी, श्रीमती कमला देवी जी, पूज्य श्वसुरवर श्री किशनलाल जी शर्मा एवं श्वश्रूमहोदया श्रीमती काशी देवी जी प्रभृति निखिल अभिभावक वर्ग की परम कृतज्ञता मानते हुए सभी के चरणारविन्दों में कोटिशः प्रणाम करता हूं । क्योंकि इन्हीं लोगों ने सानुग्रह मुझे अध्ययनादि हेतु शुभावसर प्रदान किया जिसके फलस्वरूप ही मैं जो कुछ हूं, केवल इनकी शुभाशीशों का सत्परिणाम ही हूं ।

अवतरणिका

प्रणवं परमात्मानं नित्यशुद्धं निरञ्जनम् ।
दुःखत्रयेण दुःखीव मुक्तो मुक्त्यै समाश्रये ।।

आचार्य श्री विज्ञानभिक्षु ने अपनी साधना के अनुभव बतलाते हुए तत्त्वजिज्ञासु सुजनों को सुविधापूर्वक तत्त्वज्ञान हो सके, एतदर्थ साँख्यदर्शन, योगदर्शन, वेदान्तदर्शन एवं उपनिषत् साहित्य की व्याख्यात्मक तथा मूल-रचनात्मक दोनों प्रकार से श्रीवृद्धि ही नहीं की; अपितु दर्शन जगत् को एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण भी प्रदान किया। परन्तु आचार्य श्री ने चाहे व्याख्यात्मक ग्रन्थ हो या मूलग्रन्थ हो; सभी ग्रन्थ संस्कृत में ही लिखे हैं; और आज के युग में मूल संस्कृत ग्रन्थों के भाव को हर तत्त्व जिज्ञासु समवगत नहीं कर पाता, इसीलिए श्रीभिक्षुमहोदय के अनुपमेय विचारों का लाभ हिन्दी माध्यम से जन साधारण को हो सके; तथा दर्शन के छात्रों में भी जो हिन्दी माध्यम से बी०ए० समुत्तीर्ण करके आते हैं उन्हें भी मूलग्रन्थों के भावावबोध में विशेष काठिन्य होता है। यही सब सोचकर मैंने विचार किया कि यावच्छक्य सर्व-दर्शन समन्वयकर्त्ता आचार्य श्री विज्ञानभिक्षु के ग्रन्थों का भावार्थ यथामति हिन्दी भाषा में अनूदित कर तत्त्वजिज्ञासु बन्धुओं की सेवा में प्रस्तुत करूँ। इसी प्रेरणा के फलस्वरूप यह प्रथम प्रयास साँख्यसार का हिन्दी अनुवाद है।

यह अनुवाद ग्रन्थ बहुत बड़ा न हो जाय इस भय से सामान्यतः संक्षिप्त रूप में ही प्रस्तुत किया गया है; किन्तु विषय की गम्भीरता की दृष्टि से व तात्पर्य को सुस्पष्ट करने की दृष्टि से कई स्थलों पर विस्तृत भी किया है। यह मैं नहीं कह सकता कि जो कुछ मैं समझ पाया हूँ; वही ठीक है या जितना प्रकाश मैं डाल पाया हूँ वही पर्य्याप्त है ; तथापि इतना अवश्य कह सकता हूं कि वर्षों के मेरे अध्यापनानुभव की छाप इस अनुवाद में अवश्य मिलेगी। कहीं-कहीं छायानुवाद भी हुआ है, किन्तु अधिकाँश भावानुवाद ही है।

सबसे पहले साँख्यसार का ही अनुवाद प्रस्तुत करने का मूल कारण यह है कि यह ग्रन्थ आचार्य जी का मूलग्रन्थ है तथा उनके जीवन भर की साधना एवं तत्त्वज्ञान का परिपक्व परिणाम है। और यह "सम्यक् ख्यानं संख्या सा यस्मिन् वर्त्तते तत् साँख्यम्" अर्थात् अच्छी तरह से आत्म ज्योति के ज्ञान को प्रकाशित करना ही संख्या कहलाती है; और वह संख्या जिस

शास्त्र में हो वही शास्त्र साँख्य कहलाता है। "संख्यावान् पण्डितः कविः" नास्ति साँख्यसमं ज्ञानम्" इत्यादि स्थलों पर जो गरिमा साँख्य को समधिगत है। उसको अक्षरशः सर्वथा चरितार्थ करने वाला यह ग्रन्थरत्न "गागर में सागर" वाली कहावत को पूर्ण करता है। इसके माध्यम से श्रीविज्ञानभिक्षु ने अपने तत्त्व ज्ञान सम्बन्धी समस्त सिद्धान्तों का संक्षिप्त संकलन प्रस्तुत किया है। आचार्य जी के दार्शनिक विचारों का सम्यगवबोध करवाने में यह स्वल्पकाय होते हुए भी सारगर्भित ग्रन्थ सर्वथा सक्षम है। मेरी दृष्टि से यह ग्रन्थ केवल सांख्य शास्त्र का ही अनूठा ग्रन्थ नहीं, अपितु यह मोक्षशास्त्रों में भी अपना अद्वितीय स्थान रखता है। इतने संक्षिप्त ग्रन्थ में इतने विशिष्ट सभी तत्त्व ज्ञानमय विचारों का सुललित ढंग से गुम्फन लेखक की सृजनकला का प्रशंसनीय प्रसाद है।

साँख्यसार में सामान्यतः साँख्य के सभी तत्त्वों का निरूपण किया गया है। किन्तु जिन तत्त्वों की सुविस्तृत चर्चा साँख्यकारिका एवं साँख्य-प्रवचनभाष्य में हो गयी है, उन तत्त्वों का तो यहाँ अत्यन्त सूक्ष्म रूप से संक्षेप में ही विश्लेषण किया गया है; किन्तु जिन तत्त्वों का वहां संक्षिप्त वर्णन है उनका यहाँ सुविस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ की अपनी विशेषता है। इस ग्रन्थ में दुरूह से दुरूह तथ्यों को भी सामान्य लोक व्यवहार में प्रचलित उदाहरणों द्वारा इस ढंग से प्रस्तुत किया गया है; कि सामान्य बुद्धि वाले व्यक्ति भी उन्हें आसानी से हृदयङ्गम कर सकें।

यह ग्रन्थ रत्न दो भागों में विभक्त है, पूर्वभाग एवं उत्तरभाग। पूर्वभाग गद्यमय एवं सङ्क्षिप्त है, तथा उत्तरभाग पूर्वभाग की तुलना में बड़ा है, तथा पद्यमय है। उत्तर भाग को पद्यमय बनाने का कारण भी आचार्य भिक्षु ने स्वयं स्पष्ट किया है कि—

> अथ शिष्यैः सुखेनैव गृहीतुं पद्यमालया।
> विवेकस्यानुयोग्यात्मा पुरुषाख्यो निरूप्यते॥

पुरुष तत्त्व जैसे गम्भीर विषय को भी शिष्य लोग आसानी से हृदयङ्गम कर सकें, इसी भावना से पद्यमयी रचना की गयी है।

परम पुरुषार्थ प्राप्ति ही मानव मात्र का लक्ष्य है। अतः ग्रन्थ के प्रारम्भ में पूर्वभाग के प्रथम परिच्छेद में उसी तथ्यभूत मोक्ष का निरूपण किया गया है। किन्तु विना विवेकख्याति के मोक्ष प्राप्त हो नहीं सकता, इसीलिए उसके बाद पूर्वभाग के द्वितीय परिच्छेद में विवेकख्याति का सुविशद वर्णन किया

गया है। आत्म तत्त्व एवं अनात्म तत्त्वों का विश्लेषणात्मक ज्ञान तभी सम्भव है जबकि अनात्मभूत तत्त्वों का भी सही-सही स्वरूप समझ लिया जाय; इसीलिए विवेकख्याति के प्रतियोगी प्रकृति प्रभृति निखिल जड़ तत्त्वों का सुसङ्क्षिप्तरूप में सुविशद वर्णन पूर्वभाग के तृतीय परिच्छेद में किया गया है।

इसी तरह उत्तर भाग में भी सात परिच्छेदों में क्रमशः पुरुषस्वरूप विवेचन, आत्मतत्त्व की सत्यता तथा अनात्मतत्त्वों की असत्यता स्वरूपी आत्मानात्म तत्त्वों का पारस्परिक वैधर्म्य; आत्मतत्त्व की चेतनायुक्तता एवं अनात्मतत्त्वों की अचेतनता, आत्मतत्त्व की प्रियता एवं अनात्मतत्त्वों की अप्रियता, आत्मतत्त्व का सर्वथा प्रकृत्यादि चौबीसों तत्त्वों से पार्थक्य इन विषयों का पाँच परिच्छेदों में प्रतिपादन करके आत्मतत्त्व के साक्षात्कार की प्रक्रिया असम्प्रज्ञातसमाधि स्वरूपी राजयोग का षष्ठ परिच्छेद में वर्णन करते हुए ग्रन्थ के चरम परिच्छेद में मानव मात्र के चरम एवं परम लक्ष्य-भूत कैवल्य का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। कैवल्य के दोनों ही प्रकार क्रमशः स्पष्ट किये गये हैं। वे हैं जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति स्वरूपी परम कैवल्य। तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी तत्काल मृत्यु तो होती नहीं; अतः वह व्यक्ति प्रारब्ध कर्माशय के भोग पूर्ण करने के लिए देहपात पर्य्यन्त निर्लिप्त भाव से सम्पूर्ण कर्त्तव्य कर्मों का यथाविधि निर्वहण करता हुआ जीवित रहता है, वही स्थिति जीवन्मुक्तावस्था कहलाती है; और प्रारब्ध कर्मों के पूर्ण हो जाने पर "ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः के अनुसार ज्ञानाग्नि से परिदग्ध कर्माशय वासना वाले प्राणी को जन्म आयु और भोग देने वाला कोई मूल कर्म नहीं रहता। अतः परम मुक्ति विदेह कैवल्य प्राप्त हो जाता है। इन सभी विषयों का सुविशद वर्णन बहुत रूचिपूर्ण ढंग से अनेकानेक उदाहरणों सहित आचार्य श्री विज्ञानभिक्षु ने परम कौशल से किया है। इसीलिए सबसे पहले इस ग्रन्थ रत्न का यथामति अनुवाद करके सेवार्पित कर रहा हूं। इससे यदि उन तत्त्वजिज्ञासु बन्धुओं एवं छात्रों को कुछ भी लाभ हो सका; तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा, जिन्हें मूल संस्कृत से भावाववोध में काठिन्य होता था।

इस शुभ कर्म में प्रवृत्त्यर्थ प्रेरित कर परमानुग्रह पूर्वक नैकविध विघ्न-बाधाओं को दूर कर इस कर्म को सम्पन्न करवाने वाले परम ज्योति परमात्मा के चरणारविन्दों में कोटिशः प्रणाम करता हूं। साथ ही उन सभी गुरूजनों का भी श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हुए उन्हें भी कोटिशः प्रणाम करता हूं; जिन्होंने परम वात्सल्य पूर्वक मुझे अकारादि वर्णमाला से प्रारम्भ कर विद्यावारिधि (पी० एच० डी०) तक की शिक्षा दी। साथ ही इस

शरीर के निमित्तभूत पूज्य पितृवर पूज्या जननी पूज्य श्वसुरवर पूज्याश्वश्रू वर्य्या पूज्य ज्येष्ठावुत्त प्रवर पूज्या ज्येष्ठ भगिनीप्रवरा पितृव्यवर्ग ज्येष्ठ भ्रातृवर्ग ज्येष्ठभ्रातृजायावर्ग प्रभृति निखिल अभिभावक वर्ग को भी श्रद्धा पूर्वक प्रणाम करता हूं जिनके सल्लालन पालन एवं वात्सल्यमय शुभाशीशों के सत्प्रभाव से ही मुझे यह शुभावसर समधिगत हो सका।

गुरुवर डॉ० मण्डन मिश्र जी, डॉ० रूद्रदेव जी त्रिपाठी, डॉ० सी० आर० स्वामिनाथन्‌जी श्री लक्ष्मी निवास जी झुन्झुनु वाले तथा श्रीपरमानन्द जी चूडीवाल प्रभृति सज्जनों की सत्प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से ही यह ग्रन्थरत्न प्रकाशित हो सका है अतः इन सभी के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता समभिव्यक्त करता हूं। उन सभी छात्र छात्राओं तथा प्रेस वालों का भी मै आभारी हूं जिन्होंने एतदर्थ सदाग्रह एवं शीघ्रता हेतु मुझे प्रेरित किया।

"गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः" इस वचन के अनुसार सावधानी रखते हुए भी मुद्रण में जो त्रुटियाँ रह गयी हैं; उनका शुद्धिपत्र छपवा कर पुस्तक के अन्त में दे दिया है, सो पाठक बन्धु उससे लाभ उठावें एवं कोई सुझाव उचित समझें तो अवश्य देकर मुझे कृतार्थ करें। ताकि अग्रिम संस्करण में यथापेक्षित संशोधन किया जा सके।

विद्वच्चरणचञ्चरीकः

(डॉ० बदरी नारायण शर्मा पंचोली)

विषयानुक्रमणिका

सांख्यसारस्य पूर्वभागः (सांख्यसार का पूर्वभाग)

१. पूर्वभागे प्रथमः परिच्छेदः (पूर्वभाग में पहला परिच्छेद)
विवेकख्यातिफलत्वेन प्रतिपादितः परमपुरुषार्थः ।

जडचेतनतत्त्वों का सही-सही स्वरूपों में जो तत्त्वज्ञान होता है; उसी के फल के रूप में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों में भी सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ मोक्ष है; उसी का निरूपण इस परिच्छेद में किया गया है। १-१०

२. पूर्व भागे द्वितीयः परिच्छेदः (पूर्वभाग में द्वितीय परिच्छेद)।
मोक्षहेतुविवेकज्ञानस्य स्वरूपनिरूपणम् ।

("ऋते ज्ञानान्न मोक्षः" इत्यादि वचनोंके अनुसार विना ज्ञान के मोक्ष हो नहीं सकता एवं उस ज्ञान के स्वरूप को जव तकसमझा न जाय उसे अपनाया कैसे जा सकता है; इसीलिए इस द्वितीय परिच्छेद में मोक्ष के कारणभूत विवेकज्ञान के स्वरूप का याथातथ्येन निरूपण किया गया है।)
११-२१

३. पूर्वभागे तृतीयः परिच्छेदः (पूर्वभाग में तृतीय परिच्छेद)
विवेकप्रतियोगीनां प्रकृत्यादीनान्तत्त्वानाँ स्वरूपनिरूपणम् ।

(मोक्ष के कारणभूत विवेकज्ञान के प्रतियोगी प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, मन, पञ्चतन्मात्र, एकादश इन्द्रियाँ एवं पञ्चभूतों के स्वरूप ज्ञान के विना उनके प्रपञ्च से वचकर विवेकज्ञानपूर्वक मोक्षप्राप्ति सम्भव नहीं, इसीलिए इस तृतीय परिच्छेद में प्रकृत्यादि तत्त्वों के स्वरूपों का निरूपण किया गया है।) २२-४५

सांख्यसारस्योत्तरभागः (सांख्यसार का उत्तरभाग)

४. उत्तरभागे प्रथमः परिच्छेदः (उत्तरभाग में प्रथम परिच्छेद)
पुरुषस्वरूपविवेचनम्

("आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः" इत्यादि वचनों के अनुसार आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करना परम कर्त्तव्य है। और उसके स्वरूप परिज्ञान के विना यह सब सम्भव नहीं; इसीलिए आत्म तत्त्व का विश्लेषणपूर्वक स्वरूप विवेचन इस उत्तर भाग के प्रथम परिच्छेद में किया गया है।) ४६-५४

५. उत्तरभागे द्वितीयः परिच्छेदः (उत्तरभाग में द्वितीय परिच्छेद)

आत्मानात्मनोः सत्यत्वासत्यत्वात्मकवैधर्म्यप्रतिपादनम् ।

(आत्म तत्त्व की सत्यता एवं अनात्मभूत तत्त्वों की असत्यता स्वरूपी जड़चेतन तत्त्वों की पारस्परिक भिन्न-भिन्न वैशिष्ट्य युक्तता का प्रतिपादन इस उत्तरभाग के द्वितीय परिच्छेद में किया गया है।) ५५-६५

६. उत्तरभागे तृतीयः परिच्छेदः (उत्तरभाग में तीसरा परिच्छेद)

आत्मानात्मनोश्चिदचित्त्ववैधर्म्यनिरुपणम्

(आत्मतत्त्व की चेतना युक्तता एवं अनात्म तत्त्वों की चेतनाशून्यता स्वरूपी पारस्परिक पृथक्-पृथक् वैशिष्ट्यों की विशेष स्थिति का निरूपण इस उत्तर भाग के तृतीय परिच्छेद में किया गया है।) ६६-८२

७. उत्तरभागे चतुर्थः परिच्छेदः (उत्तरभाग में चतुर्थ परिच्छेद)

आत्मानात्मनो; प्रियत्वाप्रियत्ववैधर्म्यप्रतिपादनम्

(आत्मतत्त्व की प्रियता एवं अनात्म तत्त्वों के वन्ध के प्रति कारण होने से जो अप्रियता होती है, उस प्रियता एवं अप्रियता स्वरूपी चेतन तत्त्व एवं जडतत्त्वों की पारस्परिक भिन्न वैशिष्ट्ययुक्तता का निरूपण इस उत्तर भाग के चतुर्थ परिच्छेद में किया गया है।) ८३-९४

८. उत्तरभागे पञ्चम; परिच्छेदः (उत्तरभाग में पञ्चम परिच्छेद)

आत्मतत्त्वस्य प्रकृत्यादिचतुर्विंशतितत्त्वेभ्यः सर्वांशतो वैधर्म्यप्रतिपादनम्

(आत्म तत्त्व की प्रकृति इत्यादि चौवीसों तत्त्वों से हर तरह से भिन्न धर्मता का प्रतिपादन उत्तर भाग के इस पञ्चम परिच्छेद में किया गया है।) ९५-११२

९. उत्तरभागे षष्ठः परिच्छेदः (उत्तरभाग में छट्टा परिच्छेद)

राजयोगप्रकारनिरूपणम्

(नैकविध प्रतिपादित योगों में असम्प्रज्ञातसमाधि स्वरूपी निर्बीज योग सुविशिष्ट योग होने के हेतुवश राजयोग कहलाता है, उसी के विविध प्रकारों का निरूपण यहां उत्तर भाग के षष्ठ परिच्छेद में किया गया है।) ११३-१३७

१०. उत्तरभागे सप्तमः परिच्छेदः (उत्तरभाग में सातवां परिच्छेद)

जीवन्मुक्तिपरममुक्त्योः स्वरूपविवेचनम्

(तत्त्वज्ञान सम्पन्न व्यक्ति प्रारब्धकर्मों की पूर्ति हेतु घट के वन जाने पर भी चक्के के वेग की तरह शरीरस्थ रहता है, वह जीवन्मुक्त है। और प्रारब्ध कर्माशय संस्कारों के पूर्ण हो जाने पर शरीर को सर्वथा छोड़कर परम कैवल्य प्राप्त करता है, इन्हीं स्वरूपों का विवेचन यहाँ किया गया है।) १३८-१४८

॥ श्रो: ॥

श्रीविज्ञानभिक्षुविरचित:

सांख्यसार:

पूर्वभाग:

प्रथम: परिच्छेद:

महदाख्य: स्वयम्भूर्यो
जगदङ्कुर ईश्वर: ।
सर्वात्मने नमस्तस्मै
विष्णवे सर्वजिष्णवे ॥१॥

जो महत् नाम से पुकारा जाने वाला, अपने आप प्रकट होने वाला सम्पूर्ण संसार का मूल उद्गम यथा तथा अन्यथा कर सकने में समर्थ है उस सर्वथा सभी पर विजय प्राप्त करने वाले, सभी स्वरूपों में विद्यमान रहने वाले व्यापक तत्त्व को नमस्कार।

सांख्यकारिकया लेशाद्
आत्मतत्त्वं विवेचितम् ।
सांख्यसारविवेकोऽतो
विज्ञानेन प्रपञ्च्यते ॥२॥

सांख्यकारिका नाम के ग्रन्थ द्वारा आत्मतत्त्व का विवेचन थोड़ा सा किया गया है, इसीलिए विज्ञानभिक्षु के द्वारा विशिष्ट स्वानुभूत तत्त्वज्ञान सांख्य-सार के नाम से आत्मादि के सुविशिष्ट विश्लेषण एवं विवेचन पूवंक सही-सही स्वरूप में विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्राय: सङ्कलिता सांख्य—
प्रक्रिया कारिकागणे ।
साऽतोऽत्र वर्ण्यतेलेशात्
तदनुक्तांशमात्रत: ॥३॥

सांख्यदर्शन की अधिकतर प्रक्रिया तो सांख्यकारिका नाम से सुप्रसिद्ध ७० कारिकाओं के समुदाय में एकत्रित कर ही दी गयी है, इसलिए इस सांख्य-सार नाम के ग्रन्थ में वह सांख्यप्रक्रिया केवल सांख्यकारिका में न बतलायी हुई ही संक्षेप से वर्णित की जा रही है। अर्थात् जो अंश सांख्यकारिका में आ

गये हैं, उनका वर्णन यहां लेशमात्र किया गया है और जो होना चाहिए अंश वहाँ नहीं आया, वही यहाँ विशेष रूप से प्रतिपादित किया जा रहा है।

सांख्यभाष्ये प्रकृत्यादेः
स्वरूपं विस्तरान्मया ।
प्रोक्तं तस्मात् तदप्यत्र
सङ्क्षेपादेव वक्ष्यते ॥४॥

श्रीविज्ञानभिक्षु कहते हैं कि—मैंने महर्षि कपिल प्रणीत सांख्यसूत्रों पर लिखे सांख्यप्रवचन भाष्य नामक ग्रन्थ में प्रकृति आदि तत्त्वों के स्वरूप को विस्तारपूर्वक स्पष्ट रूप से बतला दिया है; उसी कारण उन प्रकृत्यादि तत्त्वों का भी इस सांख्यसार नामक ग्रन्थ में सङ्क्षेप से ही वर्णन किया जायगा। अर्थात् प्रकृति एवं प्राकृत तत्त्वों का निरूपण यहाँ संक्षेप से किया जायगा।

आत्मानात्मविवेकसाक्षात्कारात् कर्तृत्वाद्यखिलाभिमाननिवृत्त्या तत्कार्यरागद्वेषधर्माधर्माद्यनुत्पादात् पूर्वोत्पन्नकर्मणां चाविद्यारागादिसहकार्युच्छेदरूपदाहेन विपाकानारम्भकत्वाद् आरब्धसमाप्त्यनन्तरं पुनर्जन्माभावेन त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरूपो मोक्षोभवतीति श्रुतिस्मृतिडिण्डिमः :

आत्मा अर्थात् पुरुषतत्त्व (चेतन तत्त्व) और अनात्मा अर्थात् प्रकृति व महदादि सम्पूर्ण जडवर्ग के चौबीसों तत्त्वों के विश्लेषणपूर्वक सही-सही स्वरूप के अवबोध रूपी ज्ञान का साक्षात्कार कर लेने से अर्थात् सांख्य प्रतिपादित पच्चीसों तत्त्वों के सही-सही स्वरूप का साक्षात्कार कर लेने से कर्तृत्व आदि सम्पूर्ण अभिमानों की निवृत्ति से अर्थात् मैं करने वाला हूं आदि अहंकार की भावनाओं के समाप्त हो जाने से, उस अभिमान के कार्य के रूप में उत्पन्न होने वाले राग, द्वेष, पुण्य, पाप आदि के उत्पन्न न होने से तथा अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश आदि सहयोगियों के उच्छेद रूपी दाह के द्वारा पहले के अर्जित कर्मों के फल देना प्रारम्भ न करने के हेतुवश और प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति के पश्चात् पुनर्जन्म न होने से आध्यात्मिक आधिभौतिक एवं आधिदैविक तीनों प्रकार के दुःखों की हमेशां के लिए निवृत्ति रूपी मोक्ष होता है; यह वेदों और स्मृतिग्रन्थों की सुस्पष्ट घोषणा है।

तत्र श्रुतयः "अथाकामयमानो योऽकामो निष्कामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्तीहैव समवलीयन्ते [1]

१. वृहदारण्यकोपनिषत् ४/४/६/

[1]आत्मानं चेद् विजानीयाद्,
अयमस्मीति पुरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय,
शरीरमनुसञ्ज्वरेत् ॥
[2]यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते,
कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भव—
त्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

उस मोक्ष के विषय में वैदिक प्रमाण हैं—

बृहदारण्यकोपनिषत् के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण के षष्ठ मन्त्र में लिखा है कि—किसी प्रकार की ईच्छा न करता हुआ जो अर्वथा कामनाशून्य हो गया है, तथा फल त्याग पूर्वक केवल कर्त्तव्य वुद्धि से सर्वथा आसक्ति शून्य होकर कर्म करने वाला होता है। उस प्राणी के प्राण कहीं भी निकल कर नहीं जाते अपितु यहीं पर प्रत्येक परमाणु में व्याप्त परम ज्योति परमात्मा में सम्यक् प्रकार से लीन हो जाते हैं। अर्थात् वह आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति रूप परम पुरुषार्थ मोक्ष को सर्वथा समधिगत कर लेता है।

आगे पुनः बृहदारण्यकोपनिषत् के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण के ही बारहवें मन्त्र में ही लिखा है कि—

यदि यह पुरुष चेतन तत्त्व "मैं हूं" इस तरह आत्मा को अच्छी तरह से जान जावे तो वह फिर क्या चाहता हुआ किस मनोरथ की पूर्ति के लिए लिए लिङ्गशरीर के सुख दुःख मोह को अपना सुख दुःख मोह समझता हुआ उसी के अनुसार परेशान होता रहे ?

अर्थात् वह प्राणी तो सर्वथा तत्त्वज्ञान प्राप्त होने से अपनी विषयाकाराकारित वुद्धि के प्रतिविम्व से प्राप्त सुख दुःख मोहात्मक भोग से भी सर्वथा मुक्त हो ही जाता है।

कठोपनिषत् की षष्ठ वल्ली के चतुर्दश मन्त्र के रूप में लिखा है कि—

जब इसके हृदय में विद्यमान रहने वाली सम्पूर्ण कामनाएँ छूट जाती हैं। तदनन्तर इस मृत्युलोक में आवागमन के चक्कर में रहने वाला यह प्राणी सर्वथा अमर हो जाता है। और यहीं पर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् ब्रह्मलीन होकर सर्वथा मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

---

१. बृहदारण्या कोपनित् ४/४/१२/
२. कठोपनिषत् २/६/१४/

कामान् यः कामयते मन्यमानः
स कर्मजिर्भायते तत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु
इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥[1]

इत्याद्या :

मुण्डकोपनिषत् के तृतीय मुण्डक के द्वितीय खण्ड के द्वितीय मन्त्र में स्पष्ट किया है कि जो व्यक्ति इस संसार में प्राप्त होने वाले तथा परलोक में प्राप्त होनेवाले विषय भोगों के नगण्य तुच्छ वैशिष्टयों को भी बहुत मानता हुआ उन्हें प्राप्त करने की ईच्छा करता रहता है। वह उन्हीं विषयों के भोग प्राप्ति की ईच्छाओं से ओत-प्रोत रहने के हेतुवश उन ईच्छाओं की पूर्ति योग्य विभिन्न स्थानों पर जन्म लेता रहता है। अर्थात् इस तरह वह विषयभोगाकाङ्क्षी जन्ममृत्यु के चक्कर में पड़ा ही रहता है।

किन्तु इससे विपरीत जिसे विवेकख्याति हो जाने से सम्पूर्ण कामनाओं से तृप्ति हो गयी हो; ऐसे कृतकृत्य व्यक्ति की तो सम्पूर्ण कामनाएँ यहीं लीन हो जाती हैं। अर्थात् वह सर्वथा निष्काम होकर मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

इत्यादि वैदिक प्रमाण उपलब्ध हैं। स्मृतयश्च कौमविद्याः।

कूर्मपुराण आदि स्मृतियाँ भी ऐसे प्रमाण प्रस्तुत करती हैं।

यथा कौर्मे—

जैसे कूर्म पुराण में लिखा है कि—

रागद्वेषादयो दोषाः
सर्वेभ्रान्ति निबन्धनाः।
कार्यो ह्यस्य भवेद्दोषः
पुण्यापुण्यमिति श्रुतिः ॥
तद्वशादेव सर्वेषां
सर्वदेहसमुद्भवः। इति।[2]

कूर्म पुराण के द्वितीय् भाग के छट्टे अध्यायस्थ इक्कीसवें तथा बाइसवें श्लोकों में प्रतिपादन किया गया है कि—रागद्वेष आदि सभी दोष मिथ्याज्ञान रूपी भ्रम से सम्बन्धित हैं। धर्म और पाप रूपी दोष को उत्पन्न करना यही इनका कार्य है। इस प्रकार श्रुति में भी प्रतिपादित किया गया है।

१. मुण्डकोपनिषत् (३/२/२)

२. कूर्मपुराण (२/६/२१-२२)

इन्हीं पुण्य तथा पापमय दोषों के प्रभाव से ही सभी प्राणियों के सभी शरीर उत्पन्न होते हैं।

मोक्षधर्मे च—

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थश्च
नोपसर्पन्त्यतर्षुलम्।
हीनश्च करणैर्देही
न देहं पुनरर्हति ॥
तस्मात् तर्षात्मकाद्रागाद्
बीजात् जायन्ति जन्तवः ॥[1]

महाभारत के शांति पर्वस्थ मोक्षधर्म पर्व के दो सौ तेरहवें अध्याय के इक्कीसवें श्लोक में स्पष्ट किया है कि—

तृष्णाहीन व्यक्ति के पास उसे समासक्त करने हेतु इन्द्रियाँ और उनके द्वारा भोगे जाने वाले शब्दादि विषय कभी नहीं आते।

इस प्रकार इन्द्रियों एवं इन्द्रियों के विषयों से शून्य हुआ अर्थात् इन्द्रियों या उनके भोग्य विषयों में समासक्त न रहने वाला जीवात्मा पुनः शरीर को प्राप्त नहीं कर सकता। अर्थात् उसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है। उसे पुनः जन्ममृत्यु के चक्कर में नहीं गिरना पड़ता।

इस प्रतिपादन से यह तथ्य सुस्पष्ट होता है कि तृष्णा रूपी राग ही जीवात्मा के जन्म के प्रति कारण होता है। उस तृष्णा रूपी बीज से ही प्राणी जन्म लेते हैं। उससे छुटकारा मिल जाने पर उन्हें फिर जन्म लेने की जरूरत नहीं होती जैसे बीज के अभाव में अंकुरादि उत्पन्न नहीं हो सकते; वैसे ही वह भी रागादि के अभाव में सर्वथा मुक्त हो जाता है।

ननु रागाभावेऽपि केवल-कर्मवशान्नरकादिप्राप्तेः कथं रागस्य कर्मसहकारित्वं विपाकारम्भ उपपन्नम्, नरकादौ विशेषतो रागाभावेऽपि सामान्यतो रागसत्त्वात् निषिद्धस्त्र्यादिगामिनां स्त्र्यादि-रागादेव तप्तलोहमय-नारीसमालिङ्गनादिरूपनरकोत्पत्तेः।

पूर्वपक्ष कहते हैं कि—राग का अभाव होने पर भी केवल कर्म के प्रभाव से नरकादि लोकों की प्राप्ति होने के हेतुवश फल के प्रारम्भ होने में राग की कर्मसहकारिता क्यों स्वीकार की जाती है?

---

१. महाभारतेशांतिपर्वणि २१३/२१

उत्तर देते हैं कि—नरकादि लोकों में विशेष रूप से राग न होने पर भी सामान्य रूप से राग होने के कारण ही, जानते हुए भी कि निषिद्ध स्त्रीगमन करने से नरक प्राप्त होगा स्त्री आदि भोग्य वस्तुओं में राग होने के हेतुवश निषिद्ध स्त्रीगमन आदि दुष्कर्म करते ही हैं तथा उसके फलस्वरूप लोहे की बनी हुई तथा खूब अच्छी तरह से तपती हुई स्त्री से आलिंगन आदि करवाने वाले नरकों की उपलब्धि होती ही है ; और ऐसा होने से यह सुस्पष्ट होता है कि नरकादि में भी सामान्य रूप से कुछ राग रहता ही है।

यद्यप्यविद्याऽस्मिता रागद्वेषभयाख्यं क्लेशपञ्चकमेव जन्मादिविपाकारम्भे कर्मणां सहकारि भवति—"तदेव सक्तः सत कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषिक्तमस्य"[1] इति श्रुतावभिमानरागद्वेषादिजन्यस्य विषय-वासनाख्य-सङ्गसामान्यस्यैव जन्मादिविपाकारम्भे कर्मसहकारित्वसिद्धेः।

यद्यपि जन्म आयु और भोग रूपी फल के प्रारम्भ होने में अर्थात् उपलब्धि में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और भय नाम से पुकारे जाने वाले पांचों क्लेश ही कर्मों के सहयोगी होते हैं। तथापि बृहदारण्यकोपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण के षष्ठ मंत्र में लिखा है कि—"कर्म के फल की भोगलिप्सा में पड़ा हुआ प्राणी जिस फल में आसक्त होता है। वह तदनुरूप कर्म के द्वारा उसी फल को प्राप्त करता है। अर्थात् जहां जिसका मन आसक्त रहता है। कर्म के सहयोग से उसकी वहीं गति होती है; और इस तरह प्राणी जन्ममृत्यु के चक्कर में कर्म फलासक्त होकर फंसा रहता है।"

इस तरह वेद में अहंकार, किसी वस्तु को प्राप्त करने या प्राप्त करते रहने की अनुरक्ति रूपी राग, और किसी को न चाहते हुए उसे हटाने की ईच्छा या उसे सर्वथा नष्ट कर देने की ईच्छा रूपी द्वेष आदि दोषों से उत्पन्न होने वाले शब्द-स्पर्श-रूप-रस और गन्ध रूपी विषयों की भोगलिप्सा रूपी वासना नाम से प्रसिद्ध आसक्ति सामान्य की ही जन्म आयु और भोग रूपी फल के प्रारम्भ में कर्मों की सहकारिता सिद्ध होने के हेतुवश भी सुस्पष्ट है कि अविद्यादिपञ्चक्लेश ही जन्मादि में कर्मों के सहकारी होते हैं। क्योंकि उन्हीं के प्रभाव से व्यक्ति नैकविध दुष्कर्म भी कर डालता है ; तथा उसके फलस्वरूप नरकादि लोकों में भी जाता है। अतः काम ही महा शत्रु है।

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/६

"यत्र यत्र मनो देही,
धारयेत् सकलं धिया ।
स्नेहाद् द्वेषाद् भयाद् वाऽपि,
याति तत्तत्सरूपताम् ॥
इत्यादिस्मृतेश्च ।

"स्नेह के हेतुवश, द्वेष के कारण या भय की वजह से भी जो व्यक्ति अपने चित्त को जिन-जिन वस्तुओं में आसक्तिपूर्वक सर्वथा लगाये रखता है। वह व्यक्ति उन वस्तुओं के ही समान स्वरूपता को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् वह वैसा ही बन जाता है।" इत्यादि स्मृति के प्रमाण से भी स्पष्ट है कि जिसका मन जहाँ आसक्त रहता है; उसे उसी स्वरूप को धारण करना पड़ता है। और इस तरह विषयासक्त मन ही बन्धन का कारण बनता है। तथा अनासक्त होने पर वही मुक्ति कारण भी बनता है। इसीलिए कहा भी है कि—

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः"....

अर्थात् मनुष्यों के बन्धन एवं मोक्ष का मूल कारण मन ही है।

तथा च—"क्लेशमूलः कर्माशयः[1]" "सति मूले तद् विपाको जात्यायुर्भोगाः"[2] इति योगसूत्राभ्यामप्यदृष्टे तद्विपारम्भे च क्लेशानां हेतुत्ववचनाच्च। तथाप्यविद्याऽस्मितासत्त्वे रागस्याऽऽवश्यकत्वाद् द्वेषभययोश्च रागमूलकत्वाद् राग एवं मुख्यतो जन्मादिहेतुतया यथोक्तवाक्यै—र्निदिश्यत इति :

और उसी तरह "क्लेशमूलः कर्माशयः" अर्थात् अविद्या अस्मिता राग द्वेष तथा अभिनिवेश ही कर्माशयों के मूल हैं। इस सूत्र से तथा "सति मूले तद्-विपा को. जात्यायुर्भोगाः" कर्माशय के मूल क्लेशों के रहने पर ही कर्माशय वासना होती है और उसके फलस्वरूप जन्म लेना पड़ता है कुछ उम्र जन्म लेने पर मिलती ही है, वह थोड़ी हो या अधिक, और जब जन्म व उम्र मिलते हैं तो उस जीवात्मा को अपने अर्जित कर्मों के अनुसार सुख या दुःख रूपी भोग भी उपलब्ध होते ही हैं। इस सूत्र के द्वारा भी योगदर्शन में भाग्य व विपाकारम्भ में अविद्यादि क्लेशों की कारणता का प्रतिपादन किया गया है जिससे भी सङ्गसामान्य की बन्ध कारणता सुस्पष्ट हो जाती है।

फिर भी अविद्या तथा अस्मिता की सत्ता में राग के अवश्य होने के कारण एवं द्वेष व भय इन दोनों के रागमूलक होने के हेतुवश राग ही मुख्य रूप से

---

१. पातञ्चतल्योगदर्शनम् २/१२

२. पातञ्चलयोगदर्शनम् २/१३

जन्म आयु व भोगों के कारण के रूप में विभिन्न शास्त्र वचनों द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है। यह स्पष्ट है।

क्योंकि किसी वस्तु से सुख प्राप्त होने पर उस वस्तु को अपने पास बनाये रखने की हर स्थिति में आसक्ति मय ईच्छा होती है, उसी ईच्छा का नाम राग है "रक्तो भवति येन सोऽयं रागः" अर्थात् जिससे अनुरक्त होता है वही राग है और जिस वस्तु में राग है उस वस्तु को मुझ से कोई किसी तरह कभी अलग नहीं कर दे इस तरह उस अपनी ईष्ट वस्तु की अपने पास सत्ता रहने की स्थिति में भी जो भय बना रहता है। वही अभिनिवेश कहलाता है। यदि कदाचित् कोई उसे हटाने का प्रयास करता है; या हटाता है। तो उस व्यक्ति से द्वेष भी हो जाता है। इस तरह राग ही द्वेष और भय का भी मूल है। इसीलिए विभिन्न शास्त्रों में नैकविध वचनों द्वारा राग को ही संसार के आवागमन के चक्कर में फंसाने वाला माना गया है। यद्यपि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश इन पांचों क्लेशों से ही कर्माशय वासना के चक्कर के बन्धन में जकड़ा जाता है।

ननु "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" इत्यादिश्रुतेर्ज्ञानस्य प्राचीनकर्मनाशकत्वमेवोचितम्, दाहकत्वं कथमिष्यते इतिचेत्, न; "ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः" इत्यादिवाक्यै-र्दाहस्यापि श्रवणेन लाघवाद् दाहस्यैव नाशादिवाक्येष्वपि कल्पनौचित्यात्। कर्मणां दाहश्च क्लेशाख्यसहकार्युच्छेदेन नैष्फल्यम्। कर्मणां नाशस्तु प्रारब्धभोगान्ते चित्तनाशादेव भविष्यति, अतो लोकसिद्धेनाविद्यानाशेनैव द्वारेण कर्मफलानुत्पत्तिसम्भवान्न ज्ञानस्य कर्मनाशकत्वं गौरवादित्यादिकं योगवार्त्तिके प्रपञ्चितमस्माभिरिति दिक्।

यदि कोई कहे कि मुण्डकोपनिषद् में लिखा है कि "उस परमात्मा एवं निश्चित संसार के रूप में व्याप्त रहने वाले उस व्यापक ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने पर अर्थात् तत्त्वज्ञान हो जाने पर इसके सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं। अर्थात् भाड़ में भुने हुए चणे में जिस तरह अंकुरित होने का सामर्थ्य नहीं रहता है; उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि से नष्ट हुए कर्म, जन्म आयु व भोग रूपी फल देने में असमर्थ हो जाते हैं।" इसी तरह के अन्य भी वैदिक प्रमाण मिलते हैं जिनके आधार से ज्ञान की प्राचीन कर्मों की नाशकता ही मानी जानी उचित है, दाहकता क्यों मानते हैं ? तो उत्तर है, कि ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि श्रीमद्भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय के उन्नीसवें श्लोक में लिखा है कि

---

१. श्रीमद्भगवद् गीता ४/१९/

"ज्ञान रूपी अग्नि से जिसने अपने कर्मों को जला दिया है ऐसे उस व्यक्ति को विद्वान् लोगों ने सद् एवं असद् का विवेक रखने वाली बुद्धि से सम्पन्न पण्डित कहा है" इसी प्रकार के वाक्यों द्वारा दाह का भी वर्णन होने से लाघव की दृष्टि से दाह परकता की ही नाशादि के प्रतिपादक वाक्यों में भी कल्पना करना समुचित होने के हेतुवश दाहकता स्वीकार करना भी युक्ति युक्त ही है। यहाँ पर कर्मों के दाह का मतलब अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामों से व्यवह्रियमाण क्लेशरूपी सहकारियों को हटा देने से अपना अपना फल देने में असमर्थ बना देना ही है। कर्मों का नाश तो प्रारब्ध भोगों के अन्त होने पर चित्त का नाश होने से ही हो जाएगा, इसलिए संसार में सुप्रसिद्ध अविद्या के नाश के द्वारा ही कर्मों के फलों की अनुत्पत्ति हो जाने से तथा व्यर्थ का गौरव होने के हेतुवश भी ज्ञान की कर्मनाशकता नहीं हो सकती है। इत्यादि विषय का योगवार्त्तिक नाम की पातञ्जल योग दर्शन के व्यासभाष्य की सुविस्तृत टीका में[1] विस्तारपूर्वक हमने स्पष्ट कर दिया है इसलिए अब यहाँ अधिक न लिखकर इस विषय को यहीं पूर्ण करते हैं (ऐसा आचार्य श्री-विज्ञानभिक्षु निर्देश करते हैं।)

तस्माद विवेकसाक्षात्काराद् अविद्याऽस्मितारागादिक्लेशनिवृत्तौ त्रिविध-दुःखात्यन्त निवृत्तिरूपः परम पुरूषार्थः सिध्यतीत्युपपन्नम् । तथा च योग-सूत्रद्वयम्—"हेयं दुःखमनागतम्"[1] "विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः" इति[2]

प्रकृति व प्राकृत तत्त्वों से विश्लेषण पूर्वक पुरुष तत्त्व को अर्थात् निखिल जड़वर्ग से चेतन तत्त्व को सुस्पष्ट रूप से विवेचनपूर्वक जान लेने तथा साक्षात्कार कर लेने से अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक पांचों क्लेशों के सर्वथा हट जाने पर आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक दुःखों से अर्थात् शरीर तथा मन से प्राप्त होने वाले कष्टों से, प्राणिमात्र के माध्यम से प्राप्त होने वाले कष्टों से एवं निखिल देवों के द्वारा प्राप्त होने वाले कष्टों से हमेशाँ के लिए छुटकारा होना रूपी पुरुष का सर्वोत्कृष्ट प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो जाता है। यह युक्तियुक्त है। और वैसे ही पातञ्जल योग दर्शन के द्वितीय पाद में सोलहवें एवं छब्बीसवें सूत्रों द्वारा भी इसी तथ्य की पुष्टि की जाती है। वे सूत्र है "हेयं दुःखमनागतम्" अर्थात् जो दुःख हम भोग चुके हैं वह तो भोगा ही जा चुका है अतः उसे छोड़ने के

---

१. योगवार्त्तिकम् १/१; एवं २/१३

साक्षात्कार के लिए कोई योगसाधना करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी तरह जो दुःख अभी हम भोग रहे हैं; वह भी तत्काल भोगा ही जा रहा है अतः अब की जाने वाली साधना के फलस्वरूप वर्तमान समय में भोगे जाने वाले इस दुःख से मुक्ति होना भी सम्भव नहीं है। अब अवशिष्ट रहा केवल अनागत दुःख। वही एकमात्र त्याज्य है। उसी से हमें सुनिश्चित रूप से तथा हमेशा के लिए छुटकारा मिल जाय। इसी के लिए सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान प्राप्त करना व उसका सही-सही स्वरूप में साक्षात्कार कर लेना अभिप्रेत है एतदर्थ सांख्यज्ञान एवं योगसाधना की आवश्यकता है। इत्यादि इस सूत्र का आशय है। इसी तरह सूत्र है "विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः" अर्थात् कैवल्य का उपाय है सभी छब्बीसवां उपद्रवों से रहित सभी तत्त्वों का विश्लेपणपूर्वक सही-सही स्वरूप में हो जाना ही है। इसीलिए तीनों प्रकार के दुःखों से हमेशां के लिए, एवं सुनिश्चित रूप से मुक्ति प्राप्ति हेतु विवेकख्याति प्राप्त कर लेना परमावश्यक होने के हेतुवश तदर्थ योगसाधना करना परमाभिप्रेत है।

इति श्रीविज्ञानभिक्षुविरचिते

सांख्यसारेऽभ्यर्हितत्वादादौ

विवेकख्यातिफलस्य परमपुरुषार्थस्य

परिच्छेदः।

इस तरह उपर्युक्त प्रकार से श्रीविज्ञानभिक्षु द्वारा लिखे गये सांख्यसार नामक ग्रंथ में सभी के सर्वथा समभिप्रेत होने के हेतुवश विवेकख्याति के फल परमपुरुषार्थ कैवल्य का प्रतिपादन करने वाला प्रथम परिच्छेद पूर्ण हुआ।

द्वितीयः परिच्छेदः

आथाऽऽत्मनात्मविवेकस्य किं स्वरूपं तदुच्यते—आत्मा तावत् सुख-दुःखाद्यनुभवितेति सामान्य तो लोकप्रसिद्धिः, अनात्माच प्रकृत्यादिर्जड़वर्गः; तयोरन्योऽन्यवैधर्म्येण परिणामित्वापरिणामित्वादिरूपेण दोषगुणात्मकेन हेयोपादेयतया पृथक्त्वेन ज्ञानं विवेकज्ञानम् ।

अब आत्मा और अनात्मा के विश्लेषणपूर्वक होने वाले पृथक-पृथक् ज्ञान का क्या स्वरूप है, ऐसी जिज्ञासा के समाधान हेतु आत्मा और अनात्मा के विवेक का स्वरूप बतलाया जा रहा है—सामान्य रूप से संसार में यह बात प्रसिद्ध है कि आत्मा सुख दुःख आदि का अनुभव करने वाला होता है; और प्रकृति आदि निश्चेतन तत्त्वों का समुदाय अनात्मा कहलाता है; और उन दोनों अर्थात् आत्मा और अनात्मा का एक दूसरे की असमानता के द्वारा जड़वर्ग के रूपान्तरित होना रूपी दोष एवं आत्मा के रूपान्तरित न होकर हमेशा एक रूप में रहना रूपी गुण के द्वारा जड़वर्ग की त्याज्यता एवं आत्मा की उपादेयता का अलग-अलग विशेषता के द्वारा सुस्पष्ट ज्ञान होना ही विवेक-ज्ञान है ।

—तथा च श्रुतिः "स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति" इत्यादि । स्मृतिश्च—

सोऽथ प्रतिनिवृत्ताक्षो,
गुरूदर्पणवोधितः ।
स्वतोऽन्यां विक्रियां मौढयाद्,
आस्थितामञ्जसैक्षत ॥
अथासौ प्रकृतिर्नाहम्,
इयं हि कलुषात्मिका ।
शुद्धवुद्धस्वभावोऽहम्,
इति त्यजति तां विदन् ॥
एवं देहेन्द्रियादिभ्यः,
शुद्धत्वेनाऽऽत्मनि स्मृते ।
निखिला सविकारेयं
त्यक्तप्रायाऽहिचर्मवत् ॥" —इति

वैसे ही बृहदारण्यकोपनिषद् के तृतीय अध्याय के नवम ब्राह्मणके छब्बीसवें मन्त्र में लिखा है कि—जिस आत्मा के विषय में मधुकाण्ड में "नेति नेति" कह कर वर्णन किया गया है, वह सम्पूर्ण कार्य धर्मों से परे होने के हेतुवश किसी भी तरह से ग्रहण नहीं किया जा सकता है। क्योंकि इन्द्रियगोचर वस्तु तो ग्रहण की जा सकती है, परन्तु यह तो इन्द्रियातीत है; अतः किसी भी तरह ग्रहण नहीं किया जाता। "अशीर्योनहि शीर्य्यंते अर्थात् संसार में जितनी दिखाई देने वाली स्थूल स्वरूप से सम्पन्न रहने वाली सङ्घातात्मक वस्तुएँ शरीर आदि हैं वे सभी शीर्ण होती हैं; किन्तु आत्मा कथञ्चिदपि शीर्ण नहीं होता। वैसे ही "असङ्गो न हि सज्यते" सावयव वस्तु सावयव वस्तु के साथ सम्बद्ध हो सकती है किन्तु आत्मा निरवयव होने के हेतुवश वह कभी किसी भी वस्तु या तत्त्व से सम्बद्ध नहीं होता। वैसे ही "आसितो न व्यथते न रिष्यति" जो मूर्त्त वस्तु होती है। वही बन्धन को प्राप्त होती है आत्मा अमूर्त्त है। अतः बन्धन में नहीं पड़ता। इसीलिए यह किसी तरह कष्ट नहीं पाता; और न ही नष्ट ही होता है। इत्यादिक रूप से आत्म विषयक विचार किया गया है। और स्मृति में लिखा है कि—

अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करने वाले गुरू रूपी दर्पण के द्वारा बतलाये हुए प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों को विषयों से लौटा लेने वाला आत्मा अपने से भिन्न सम्पूर्ण विकारों को अज्ञानवश ही धारण किया हुआ है ऐसा सहज ही जान लेता है; और फिर वह सब कुछ प्रकृति ही है जो कलुष स्वरूपिणी है और मैं तो सर्वथा आसक्त्यादि दोष शून्य चेतन शुद्ध हूं, तत्त्वज्ञान से सम्पन्न बुद्ध हूं;इस प्रकार स्वाभाविक रूप से रहने वाली अग्नि में उष्णता की तरह रहने वाली अपनी शुद्धता एवं बुद्धता को समझता हुआ उस प्रकृति को छोड़ देता है। इस प्रकार से शरीर, इन्द्रियाँ आदि से आत्मा की शुद्धता का स्मर्ण होने पर अपने विकारों के सहित सम्पूर्ण प्रकृति सर्प की केंचुली की तरह प्रायः परित्यक्त सी हो जाती है।

सूत्रञ्च

और सूत्र भी इस प्रकार है कि—

"तत्त्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागात् विवेक सिद्धिः"

प्रकृति पर्यन्त के सम्पूर्ण जड़ तत्त्वों के विषय में सभी तत्त्वों के प्रति क्रमशः यह आत्मा नहीं है, वह आत्मा नहीं है ; इस तरह अभिमान के परित्याग रूपी तत्त्व का अभ्यास करने से तत्त्वज्ञान की सिद्धि होती है।

तत्त्वज्ञानस्य लक्षणञ्च मात्स्ये कृतम्—

अव्यक्ताद्ये विशेषान्ते विकारेऽस्मिश्च वर्णिते।
चेतनाचेतना न्यत्वज्ञानेन ज्ञानमुच्यते ॥

—इति

और तत्त्वज्ञान का लक्षण मत्स्य पुराण में भी लिखा है कि—प्रकृति से प्रथम उत्पन्न महत् तत्त्व से लेकर पञ्च महाभूत पर्य्यन्त के सम्पूर्ण इस विकारमात्र के वर्णन कर देने पर चेतन एव अचेतन में भिन्नता का ज्ञान हो जाने से वही विवेकज्ञान कहा जाता है।

यद्यप्यन्योऽन्यभेदज्ञानमेव विवेकज्ञानं तथाप्यात्मविशेष्यकमेव तन्मोक्षकारणं भवति, "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः। नन्वात्मन्यात्मबुद्धिरूपा याऽविद्या पातञ्जलादिषूक्ता तस्याः कथमात्मानात्मविशेष्यकविवेकज्ञाननाश्यत्वं प्रकारादिभेदाद् इति चेत्, न; तादृशाविद्याया अनात्मविशेष्यकज्ञानं द्वारेणात्मविशेष्यकविवेकज्ञाननाश्यत्वादिति।

यद्यपि एक दूसरे के भेद का ज्ञान ही विवेकज्ञान होता है। फिर भी वह ज्ञान जब आत्मविषयक होता है; तभी मोक्ष का कारण बनता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है कि "आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए। शास्त्रों से वेदों से उसके विषय को सुनना चाहिए। युक्तियों द्वारा उसका मनन करना चाहिए और फिर लगातार उसका चिन्तन योगाभ्यास द्वारा करना चाहिए। तभी उसका साक्षात्कार होता है।" यह बात केवल वेद में ही नहीं अपितु स्मृतियों में भी है। इसीलिए लिखा है कि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इत्यादि वेदवाक्यों एवं स्मृति वाक्यों से स्पष्ट है कि आत्मविषयक विवेकज्ञान ही मोक्ष का कारण बनता है। इस विषय में पूर्वपक्ष करते हैं कि—पातञ्जल-योगदर्शन आदि में जो जड़ तत्त्वों में आत्मबुद्धि होना अविद्या बतलायी गयी है उसकी प्रकारादि भेद से आत्मविशेष्यक एवं अनात्मविशेष्यक विवेकज्ञान से नष्ट होने की स्थिति कैसे हो सकती है? यदि कोई ऐसा कहे तो उत्तर देते हैं; कि ऐसा नहीं; अर्थात् ऐसे मत कहो। क्योंकि वैसी अविद्या की अनात्मविशेष्यक विवेकज्ञान के द्वारा आत्मविशेष्यक विवेकज्ञान की नाश्यता स्वीकार की जाने के हेतुवश ऐसा मानना सर्वथा युक्ति युक्त ही है।

यच्च योगेन निर्विकल्पकमात्मज्ञानं जायते। तद्विवेकज्ञानद्वारैव मोक्षकारणं भवति न तु साक्षात्, अविद्यानिवर्त्तकत्वाभावात्। 'अहं गौरः कर्त्ता सुखी दुःखी' इत्यादिज्ञानमेव ह्यविद्या संसारानर्थहेतुतया श्रुतिस्मृतिन्यायसिद्धा, तस्याश्च निवर्त्तिका 'नाहं गौरः" इत्यादिरूपा विवेकख्यातिरेव भवति। समाने विषये ग्राह्याभावत्वप्रकारकग्राह्याभावज्ञानत्वेनैव विरोधात्; अन्यथा शुक्तिनिर्विकल्पकस्यापि 'इदं रजतम्" इति ज्ञानविरोधित्वापत्तेः। किञ्च यथोक्ताभावज्ञाने ग्राह्यज्ञान विरोधित्वस्याऽऽवश्यकतया निर्विकल्पकज्ञानस्य

भ्रमनिवर्त्तकत्वं न पृथक् कल्प्यते गौरवात् । अपि च "अथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्ति" इत्यादि श्रुत्वा विवेकोपदेशापेक्षयोत्तमोपदेशो नास्तीत्युच्यते ।

क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षञ्च ये विदुर्यान्ति ते परम् ।।

इति गीतादिवाक्यैश्च विवेकज्ञानस्यैव मोक्षहेतुत्वम् उच्यते । अतो विवेकज्ञानमेव साक्षादविद्यानिवृत्त्या मोक्षहेतुः । योगेन केवलात्मसाक्षात्कारस्तु योग्यानुपलब्धिविधयोपाध्यादिगतधर्माभावमुपाध्यादिभेदञ्च ग्राहयति, ततोऽविद्यानिवृत्तिरिति ।

और जो योग के द्वारा निर्विकल्पक आत्मज्ञान होता है ; वह विवेक के ज्ञान के द्वारा ही मोक्ष का कारण बनता है, साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं होता है । क्योंकि निर्विकल्पक आत्मज्ञान में अविद्या को निवृत्त करने का सामर्थ्य नहीं है ; और अविद्या निवृत्ति के बिना मोक्ष असम्भव होता है । अर्थात् पहले निर्विकल्पक आत्मज्ञान होता है तदनन्तर निर्विकल्पक आत्मज्ञान से मोक्ष होता है । इस तरह निर्विकल्पक आत्मज्ञान मोक्ष में परम्परया कारण बनता है और विवेकज्ञान साक्षात् मोक्ष का कारण बनता है ।

मैं गौर वर्ण वाला हूं, मैं करने वाला हूं, मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं इत्यादिक रूप से जो ज्ञान होता है । निश्चित रूप से यही अविद्या है, वही संसार रूपी बन्धन के अनर्थ का मूल है । यह बात वैदिक प्रमाणों से, स्मार्त प्रमाणों एवं तर्कों द्वारा भी सर्वथा सिद्ध है । इस प्रकार की अविद्या को दूर करने वाली विवेकख्याति होती है । और अनुभव करता है; कि मैं गौरवर्ण नहीं हूं, मैं करने वाला नहीं हूं अर्थात् कर्तृत्वाभिमानी नहीं हूं । मैं सुखदुःख का भोक्ता भी नहीं इत्यादि रूप से जो अनुभूति होती है यही विवेकख्याति मोक्ष का कारण बनती है ।

समान विषय में ग्रहण करने योग्य वस्तु की अभावता की प्रकारकता से ही ग्राह्य वस्तु की सत्ता के ज्ञानत्व से ही विरोध होने के हेतुवश विवेकख्याति स्वरूप विद्या से ही अविद्या की निवृत्ति होती है । जैसे—प्रकाश से ही अन्धकार निवृत्त होता है । यदि ऐसा न माना जाय तो शुक्तिनिर्विकल्पक ज्ञान की भी यह चांदी है इस प्रकार के ज्ञान की विरोधिता स्वीकार करनी पड़ेगी । और दूसरी बात यह है कि—जैसा बतलाया गया है वैसे अभाव के ज्ञान हो जाने पर ग्राह्य ज्ञान की विरोधिता के जरूरी होने के हेतुवश निर्विकल्पक ज्ञान की भ्रान्तिनिवर्त्तकता की अलग से कल्पना नहीं की जाती । क्योंकि ऐसा करने

में व्यर्थ का गौरव होता है। क्योंकि यदि थोड़े में काम चल जाय; तो बात को लम्बी नहीं करनी चाहिए, और दूसरी बात यह है कि—जो वेद का आदेश है कि यह परम तत्त्व नहीं है यह परम तत्त्व नहीं है। और न इससे ही है। यह कहने में श्रुति का भाव यह है कि—इन सांसारिक अविद्या द्वारा परिकल्पित वस्तुओं से परे परम ज्योति परमात्मा परब्रह्म है। इसी प्रकार से ऐसे ही श्रुति वाक्यों को सुनकर तो यही कहा जाता है कि विवेक ज्ञान के उपदेश से उत्कृष्ट अन्य कोई उपदेश नहीं है। भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय में चौंतीसवां श्लोक है कि—

जो लोग अपने तत्त्व ज्ञान रूपी नेत्र से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को तथा भूतों को प्रकृति को तथा मोक्ष को सही स्वरूप में जान लेते हैं; वे निश्चितरूप से सर्वोत्कृष्ट परमज्योति परमात्मा को प्राप्त कर ही लेते हैं। इस तरह के गीता के वचनों के द्वारा भी विवेकज्ञान को ही मोक्ष का कारण बतलाया गया है। इसलिए स्पष्ट है कि—विवेकज्ञान ही अविद्या की निवृत्ति के द्वारा मोक्ष का कारण होता है। योग के द्वारा जो केवल आत्मा का साक्षात्कार होता है। वह तो योग्य की अप्राप्ति द्वारा उपाधि आदि में रहने वाले धर्मभाव को और उपाधि आदि के भेदों को ही ग्रहण करवाता है। तदनन्तर उसी से अविद्या की भी निवृत्ति हो जाती है।

एतेन सर्वभूतेषु समताज्ञानमात्मनः सर्वात्मकत्वादिज्ञानञ्च श्रुतिस्मृत्योर्गीयमानं विवेकज्ञानस्यैव शेषभूतं सर्वदर्शनेषु मन्तव्यम्, ज्ञानान्तराणां साक्षादभिमानानिवर्त्तकत्वात्। ब्रह्ममीमांसायां त्वयं विशेषोयत् परमात्मविवेकशेषत्वम्, सांख्यशास्त्रे तु सामान्यात्मविवेकशेषत्वमिति दिक्।

इस उपर्युक्त प्रतिपादन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी दर्शनों में जो प्राणि मात्र में समानता का ज्ञान और आत्मा की सर्वात्मकता आदि का ज्ञान जो वेदों और स्मृतियों में बड़े गौरव के साथ बतलाया गया है; वह इसी विवेकज्ञान का शेषभूत ज्ञान है। अर्थात् यहां तथ्य सभी दर्शनों में श्रुतिस्मृति समनुमोदित निरूपित हुआ है। क्योंकि दूसरे ज्ञानों में साक्षात् अभिमान को मिटाने की ताकत नहीं होती है। ब्रह्ममीमांसा में तो यह विशिष्ट बात है कि वहां परमात्मा विषयक विवेकज्ञान की शेषता मानी जाती है। जबकि सांख्यशास्त्र में तो सामान्य आत्मा अर्थात् जीवात्मा, पुरुष, चेतन, ज्ञ आदि नामों से पुरुष बहुत्व के रूप में स्वीकृत किये जाने वाले आत्मा के विवेकज्ञान की शेषता स्वीकार की जाती है। बस यही इतना ही प्रतिपाद्य तथ्य है; ऐसा समझना चाहिए।

नयनुथोक्तविवेकख्यातितोऽप्यत्यन्तमविद्योच्छेदो न घटते, विवेकख्यातेर-विद्याप्रतिबन्धकत्वमात्रत्वेन विवेकख्यातिनाशोत्तरं पुनरभिमानसम्भवात् शुक्तिरजतविवेकदर्शिनोऽपि कालान्तरे शुक्तौ रजतभ्रमवदिलि, मैवम्, दृष्टान्तवैषम्यात् ; शुक्त्यादिषु जातेऽपि साक्षात्कारे दूरत्वादिरूपविषयदोषाणां पटलादिरूपकरणदोषाणाञ्चोत्पत्तिसम्भवेन पुनर्भ्रमोःयुक्तः अनात्मन्यात्मा-भिमाने त्वनादिवासनैव दोषः सर्वास्तिकसम्मतः जातमात्रस्याभिमाने दोषान्तरानुपलब्धेः ।

पूर्वपक्षी कहते हैं कि जैसी विवेकख्याति आपने बतलायी है। उससे भी हमेशा के लिए तो अविद्या का मिट जाना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि विवेकख्याति की अविद्या की प्रतिबन्धकता मात्रता से विवेकख्याति के नाश होने पर भी फिर से अभिमान हो सकता है। जैसे सींप तथा चाँदी के सही-सही स्वरूप का साक्षात्कार कर लेने वाले व्यक्ति को भी फिर बाद में अन्य किसी समय में सींप को सुदूरस्थ देखकर चाँदी का भ्रम हो ही सकता हैं; उसी प्रकार विवेक-ख्याति से अभिमान निवृत्त हो जाने पर भी बाद में विवेकख्याति के नष्ट हो जाने पर अभिमान हो सकना सम्भव है ही।

उत्तर पक्ष में कहना है कि भाई ऐसा मत कहो, क्योंकि आपकें द्वारा प्रस्तुत दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक में परस्पर सर्वथा वैषम्य है। दृष्टान्त में दिखाई गई सीप आदि वस्तुओं के साकात्कार हो जाने पर भी दूरी आदि के रूप में रहने वाले विषय दोषों का उत्पन्न होना सम्भव होने के हेतुवश तथा पीलिया आदि के रूप में इन्द्रिय दोषों की उत्पत्ति भी हो सकने पर भी पुनः भ्रम हो जाना सर्वथा युक्तियुक्त ही है। परन्तु जो जातमात्र प्राणी को अभि-मान होता है; उसमें दूसरे दोष कहाँ से मिलें। इस तरह दृष्टान्त और दार्ष्टा-न्तिक में परस्पर साम्य नहीं है। अतः उपर्युक्त आक्षेप युक्तियुक्त नहीं है।

सा मिथ्याज्ञानवासना यदा विवेकख्याति-परम्पराजन्यदृढवासनोन्मूलिता तदैव विवेकसाक्षात्कारनिष्ठोच्यते। तत्पूर्वमवश्यं वासनालेशतो मिथ्यांशस्य कस्याप्यात्मनि भावात् तस्याञ्च विवेकख्याति निष्ठायां जातायां न पुनर-भिमानः सम्भवति वासनाख्यदोषाभावादिति तु महद् वैषम्यम्।

और वह मिथ्याज्ञान की वासना जब विवेकख्याति की परम्परा से उत्पन्न विवेकख्याति की दृढ़वासना से उखाड़ दी जाती है; तभी वह विवेक-साक्षात्कारनिष्ठा कहलाती है। जब तक विवेकसाक्षात्कारनिष्ठा नहीं होती तब तक तो वासना को थोड़ी सी स्थिति रहने से मिथ्याज्ञान का भी कुछ अंश आत्मा में स्थित रहता है। परन्तु विवेकख्यातिनिष्ठा के उत्पन्न हो जाने पर तो फिर कभी भी अभिमान हो ही नहीं सकता। क्योंकि वासनारूपी दोष का सर्वथा अभाव हो जाने के हेतुवश अभिमान की पुनरुत्पत्ति सम्भव ही नहीं।

परन्तु यदि बुद्धि और पुरुष इन दोनों का एक दूसरे पर प्रतिविम्बन आदि अविवेक के कारण को दोष मानते हैं। तब तो उस दोष को हटाकर ही विवेक साक्षात्कार हुआ; इसलिये वह पुनः भ्रम का कारण नहीं हो सकता। फल की ताकत से योगजधर्म के सहयोग के बिना ही उसकी दोषत्व कल्पना तो हो ही नहीं सकती, और गीतादि शास्त्रों में विवेकख्याति निष्ठा बतलाते हुए भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है कि—

'हे अर्जुन वह व्यक्ति गुणातीत कहा जाता है जो अहंकारपूर्वक किए जाने वाले सभी कर्मों का परित्याग करने वाला हो, उदासीन की तरह आसीन रहे और जो गुणों के द्वारा विचलित न किया जा सके। सत्वज्ञान के प्रभाव से ज्ञानमय प्रकाश; और रजोगुण के प्रभाव से नैकविध प्रवृत्ति तथा तमोगुण के प्रभाव से होने वाला मोह; ये तीनों ही स्थितियां यदि प्रवृत्त हों तो इन से द्वेष नहीं करता हो एवं रुक जाने पर इनकी आकांक्षा भी नहीं करता हो वही व्यक्ति गुणातीत कहलाता है।"

गुणातीत वह व्यक्ति कहलाता है जिसका वस्तुतः गुणों के प्रति होने वाला अभिमान समाप्त हो जाता है अर्थात् गुणों के प्रति होने वाली स्वत्व-बुद्धि जिसकी सर्वथा निवृत्त हो जाए वही गुणातीत होता है। विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि—ज्ञानी का विशिष्ट लक्षण तो आगे चलकर बतलायेंगे ही।

नन्वेवमपि विवेक प्रतियोगितापदार्था नामानन्त्येन प्रातिस्विकरूपैः सर्वपदार्थेभ्यो विवेकग्रहासम्भवात् कथं विवेकख्यातेर्मोक्षहेतुत्वम् इति चेत्, न; दृश्यत्वपरिणामित्वादिसामान्यरूपैर्विवेकग्रहसम्भवात्। तथाहि—द्रष्टा स्वसाक्षात् प्रकाश्येभ्यो भिन्नः प्रकाशकत्वात्; यो यस्य प्रकाशकः स तस्माद् भिन्नः यथा घरादालोको वृत्तिप्रकाश्याच्च वृत्तिरित्यनुमानेनादावन्तर्दृश्येभ्यो वुद्धिवृत्तितदारूढार्थेभ्यो विवेकतो बुद्धिसाक्षी सिध्यति। कर्मकर्तृविरोधश्चानुकूलस्तर्कः। अत्र आत्मनि व्यभिचारवारणाय साक्षात्पदम्, वृत्तिद्वारैवाऽऽत्मनः स्वविषयत्वात्।

यदि कोई पूर्वपक्षी कहता है कि—इस प्रकार से भी विवेक प्रतियोगी पदार्थों के अनन्त होने के कारण, प्रत्येकशः सभी पदार्थों से विवेक ग्रहण कर सकना सर्वथा असम्भव होने के हेतुवश विवेकख्याति की मोक्षहेतुता कैसे मानी जा सकती है। इसके उत्तरपक्ष में कहना है कि—ऐसा मत कहो, क्योंकि दृश्यता, परिणामिता आदि सामान्य स्वरूपों के द्वारा भी विवेकग्रहण कर सकना सम्भव है। अतः विवेक-ख्याति की मोक्षहेतुता अक्षुण्ण है। वैसे ही निश्चित रूप से चेतन अपने द्वारा साक्षात् प्रकाशित होने वाले पदार्थों से सर्वथा

भिन्न है। स्वयं प्रकाशक होने की वजह से, क्योंकि यह स्पष्ट है; कि – जो प्रकाशक होता है वह अपने द्वारा प्रकाश्यमान वस्तु से सर्वथा भिन्न ही होता है। जैसे प्रकाश्य घड़े से उसे प्रकाशित करने वाला प्रकाश भिन्न होता है। वैसे ही वृत्ति के द्वारा प्रकाशित किए जाने वाले पदार्थों से वृत्ति भिन्न होती है। इस अनुमान के द्वारा ही अन्त:करण में दिखाई देने वाली बुद्धि वृत्ति और उसमें आरुढ़ होने वाले सम्पूर्ण विषयों से विवेकत: बुद्धि-साक्षी चेतन की सिद्धि हो जाती है। और कर्मकर्तृत्व-विरोध तो यहाँ अनुकूल तर्क प्रतीत होता है। क्योंकि आत्मा में व्यभिचार दोष न आ जाए, इसी के लिए साक्षात पद का प्रयोग किया गया है। क्योंकि वृत्तियों के द्वारा ही आत्मा की स्वविषयता सिद्ध होती है। इसी हेतुवश साक्षात् पद का प्रयोग करना अनिवार्य था ही।

नन्वत्रानुमाने बुद्धिवृत्तिमात्राद् विवेकः सिध्यतु, तस्य एवं साक्षादात्म दृश्यत्वाद्, न प्रकृत्यादिभ्य इति चेत्, न; वृत्तिनामज्ञातसत्त्वाभावेन ह्यत्रानुमाने लाघवाद् वक्ष्यमाणतर्कगणाच्चाखिलवृत्तीनां द्रष्टा विभुकूटस्थनित्यैक ज्ञानस्वरूपतयैव सिध्यति। यथा नैय्यायिकानां 'क्षितिः सकर्तृका कार्यत्वाद्' इत्यनुमाने लाघवात् कर्त्तुरेकत्व-नित्यत्वादिकं तद्वत्। तत्र विभुत्वं परिच्छिन्नभिन्नत्वम्, कूटस्थत्वादिकत्वञ्च परिणामिभिन्नत्वादिकमतो बुद्ध्यात्मनोर्दृग्दृश्यरूपतो विवेकग्रहे सति तदुत्तरानुमानेन परिणामित्वा-परिणामित्वादिरूपैः सामान्यतोऽप्यात्मानात्मविवेकग्रहो घटत इति। अत एव पातञ्जले सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरेव मोक्षहेतुतया स्थले स्थले व्यासभाष्ये प्रोक्ता। सत्वपुरुषान्यताख्यातिरूपदृग्दृश्यविवेकग्रहोत्तरं यथोक्तरीत्या प्रकृत्यादिविवेकग्रहात्। तत्र च सत्त्वशब्दे बुद्धिस्थत्वेन बुद्धिसत्त्वमुक्तमिति। एवञ्च प्रकृत्यादिपदार्थानां विशिष्यज्ञानाभावेऽपि तद् विवेकज्ञानं घटते। एतेन दृग्दृश्यविवेकादविद्यानिवृत्तिरिति प्राचां प्रवादोऽप्युपपादितः।

यदि कोई पूर्वपक्षी कहता है कि—इस अनुमान में बुद्धिवृत्ति मात्र से विवेक भले ही सिद्ध हो परन्तु उस बुद्धिवृत्ति के ही साक्षात् आत्मा के दृश्य होने के कारण बुद्धिवृत्ति मात्र से विवेक तो हो सकता है; परन्तु प्रकृति आदि से तो विवेक सिद्ध नहीं होगा। इसके उत्तर पक्ष में कहा जाता है कि—ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं है। वृत्तियों के अज्ञात सत्व के अभाव के द्वारा इस अनुमान में लाघव होने के कारण आगे बताए जाने वाले तर्क-समूह के प्रभाव से सम्पूर्ण वृत्तियों का द्रष्टा, विभु, कूटस्थ, नित्य चेतन तत्व एक-ज्ञान-स्व-रूपता से ही सिद्ध होता है। जैसे नैयायिकों का "कार्य होने की वजह से पृथ्वी सकर्तृक होती है अर्थात् जैसे इस संसार में सम्पूर्ण कार्यों के कोई न कोई करने

वाले अवश्य होते हैं। उसी प्रकार इस पृथ्वी रूपी कार्य का भी कोई न कोई करने वाला निश्चित रूप से होगा ही।" इस अनुमान में लाघव होने के हेतु-वश कर्त्ता ईश्वर के एकता नित्यता आदि वैशिष्ट्य स्वीकार किये जाते हैं। उसी प्रकार से यहाँ अनुमान से ही चेतन का सम्पूर्ण वृत्तियों का द्रष्टृत्व आदि का माना जाना युक्तियुक्त ही है। विभुत्व का अर्थ वहां परिच्छिन्न से भिन्नता स्वरूप माना गया है और उसी तरह कूटस्थता आदि के माने परिणामि-भिन्नता आदि को समझना चाहिए। इसलिए बुद्धि और आत्मा के दृग्दृश्य रूप से विवेकग्रह हो जाने पर उसके बाद किए जाने वाले अनुमान के द्वारा परि-णामिता अपरिणामिता आदि रूपों से सामान्यतया भी आत्मा और अनात्मा का विवेकग्रह होना युक्तियुक्त ही है। इसलिए ही पातञ्जल योग दर्शन एवं व्यासभाष्य में सत्व और पुरुष की भिन्नता अर्थात् बुद्धि तत्व और आत्मतत्व को परस्पर भिन्नता के ज्ञानस्वरूपी प्रकाश को ही मोक्ष के कारण के स्वरूप में कई स्थलों पर प्रतिपादित किया गया है। क्योंकि सत्वपुरुषान्यताख्याति रूपी द्रग्दृश्य के विवेकग्रहण कर लेने के पश्चात् ही यथोक्त रीति से अर्थात् शास्त्र-विहित प्रक्रिया के अनुसार प्रकृत्यादितत्वों का भी विवेकग्रह सम्पन्न होता है। और वहाँ सत्वपुरुषान्यताख्याति में सत्त्व शब्द में बुद्धिस्थता की दृष्टि से बुद्धि-सत्त्व कहा गया है तथा इस प्रकार से प्रकृति आदि पदार्थों का विशिष्ट ज्ञान न होने पर भी उनका विवेकज्ञान युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है। इस उपर्युक्त प्रतिपादन के द्वारा दृक्-चेतनशक्ति और दृश्य-प्रकृति एवं प्राकृत सम्पूर्ण तत्वों के विवेक ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होती है; यह प्राचीन आचार्यों का कथन भी प्रतिपादित हो जाता है।

किञ्चात्मा प्रकृति-तत्कार्येभ्यो भिन्नोऽपरिणामित्वाद् इत्याद्यनुमानैरपि सामान्यतो दृश्यविवेको द्रष्टरिसम्भवतीति (यत्तु आधुनिका वेदान्तिब्रुवा दृश्यत्वेनैव प्रकृत्यादीनां द्रष्टृत्वेन च प्रकृत्याद्यखिलजड़ेभ्य आत्मविवेकं मन्यन्ते।

घटद्रष्टा घटाद्भिन्नः सर्वथा न घटो यथा।
देहद्रष्टा तथा देहो नाहमित्यादिरूपतः॥

तन्न; "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादि श्रुतिभिरात्मनोऽपि दृश्यवात्। साक्षाद् दृश्यत्वविवक्षया च प्रकृत्यादेरसङ्ग्रहात् करणद्वारैव तद्दर्शनात्।

और आत्मा प्रकृति एवं उसके कार्यों से परिणामी न होने के कारणवश भिन्न है। इत्यादि अनुमानों के द्वारा भी सामान्यतया द्रष्टा में दृश्य-विवेक

सम्भव है। किन्तु जो आधुनिक वेदान्ती कहलाने वाले दृश्यता से ही प्रकृति आदि का और द्रष्टृत्व से ही प्रकृति आदि सम्पूर्ण जड़ तत्त्वों से पृथक आत्म-विषयक विवेकज्ञान स्वीकार करते हैं, "घड़े को देखने वाला घड़े से भिन्न होता है, जैसे वह देखने वाला किसी भी स्थिति में स्वयं घड़ा नहीं होता है। उसी प्रकार से शरीर को देखने वाला, शरीरी शरीर से भिन्न ही होता है, स्वयं शरीर कभी नहीं। अतः मैं इत्यादि स्वरूपों से पुकारा जाने वाला आत्मा ही द्रष्टा होता है, शरीर नहीं।" वह ठीक नहीं—क्योंकि "अरे आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए।" इत्यादि रूप से वृहदारण्यक उपनिषद् इत्यादिक श्रुतियों के द्वारा आत्मा का भी दृश्यत्व प्रतिपादित किया गया है। और साक्षात् दृश्यत्व बतलाने की दृष्टि से प्रकृति आदि का संग्रह न करने के हेतु-वश इन्द्रियों द्वारा ही उसका साक्षात्कार करने की वजह से आत्मा में दृश्यत्व प्रतिपादित किया गया है।

अथैवं कल्पनीयम् आत्मनो वृत्तिव्याप्यत्वमेव दृश्यत्वं श्रुत्यादिभिर्विधीयते, न तु प्रकाश्यत्वरूपफलव्याप्यत्वं स्वयम्प्रकाश स्वरूपस्य प्रकाशापेक्षाविरहात्; अतोऽत्र दृश्यत्वं प्रकाश्यत्वम्, तच्चात्मनि नास्तीति तदपि तुच्छम्। यथा ह्यहमित्यनुभूयमानो ऽप्यात्मा चैतन्याख्यफलव्याप्यो न भवतीति भवद्भिरुच्यते, तथैव बौद्धैरपीष्यते, सुख-दुःखादिमत्त्वेनापि बुद्धिः स्वप्रकाशतया चैतन्यव्याप्या न भवतीति। तथा चात्मनीव बुद्धावपि दृश्यत्वासिद्ध्या दृश्यत्वेन रूपेण बुद्धिविवेकोऽत्यन्तापेक्षितोऽपि न सिध्यतीति; भाष्यादिषु चान्यान्यत्र दूषणान्युक्तानीति दिक्।

अच्छा अब इस प्रकार कल्पना करनी चाहिए कि श्रुति आदिकों द्वारा वृत्तिव्याप्यता को ही दृश्यता बतलाया गया है। प्रकाश्यता-रूप फलव्याप्यता को दृश्यता नहीं बताया गया है। क्योंकि जो स्वयं प्रकाशस्वरूप होता है, उसे प्रकाशान्तर की अपेक्षा नहीं होती। अतः यहाँ दृश्यत्व का अर्थ प्रकाश्यत्व है, और वह आत्मा में नहीं है। इसलिए वह भी तुच्छ है। जैसे "मैं" इस प्रकार से अनुभव किया जाने वाला आत्मा फलव्याप्य नहीं होता; ऐसा आप भी कहते हैं। वैसे ही बौद्धों के द्वारा भी स्वीकार किया जाता है। सुख दुःखादि से युक्तता के द्वारा भी बुद्धि स्वप्रकाशता से चैतन्य व्याप्य नहीं होती है। वैसे ही जिस प्रकार से आत्मा में दृश्यत्व की असिद्धि से दृश्यता रूप बुद्धि विवेक अत्यन्त अपेक्षित होने पर भी सिद्ध नहीं होता, इसी प्रकार से भाष्यादिकों में भी इस विषय में और दूसरे बहुत सारे दोष बतलाए गए हैं। अतः यहां इस विषय में इतना ही विचार पर्याप्त है।

ननु सम्भवत्वेवं सामान्यरूपेण विवेकग्रहः, तथापि सामान्यान्येव बहूनि सन्ति परिणामित्व-संहत्यकारित्व सुखदुःखमोहात्मकत्व-चतुर्विंशतितत्त्वत्वादीन्यतः तैस्तै रूपैर्विवेकग्रहाणां मोक्षहेतुत्वेऽननुगमदोष इतिचेत्, न ; अभिमान-प्रतिबन्धकज्ञानत्वेनैवानुगमादिति । अथैवं सामान्यरूपेण विवेकस्यैव सर्वाभिमाननिवर्त्तकतया 'नाहं देहो नेन्द्रियाणीत्यादि प्रत्येकरूपैर्विवेकग्रहाणां मोक्षहेतुत्वं श्रुतिस्मृत्योरुच्यमानं कथं घटेतेति चेत्, न ; अवान्तरविवेकानां सामान्यविवेकप्रपञ्चमात्रत्वादिति ।

इति विज्ञानभिक्षुविरचिते सांख्यसारे मोक्षहेतुविवेकज्ञानस्य स्वरूपस्य परिच्छेदः ।

यदि पूर्वपक्षी कहता है कि इस प्रकार से सामान्य के रूप से विवेकग्रह निश्चिततया हो फिर भी सामान्य तो बहुत सारे होते हैं । परिणामिता, संहत्यकारिता, सुख-दुःख-मोहात्मकता, चतुर्विंशति तत्त्वत्व आदि ; अर्थात् तत्व का स्वयं नष्ट न होकर के स्वरूपान्तर में परिणत होना ही परिणामिता सामान्यत्व होता है । सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण इन तीनों गुणों का परस्पर मिलकर के ही कार्य करना संहत्यकारिता कहलाती है। इसी तरह संसार में निखिल वस्तुजात के त्रिगुणात्मक होने के हेतुवश सुख-दुःख-मोहात्मकता स्वरूपी सामान्यत्व वस्तुजात में निहित है । इसी तरह सृष्टि मात्र की चौबीस तत्वों से युक्त होने की सामान्यता ही चतुर्विशति तत्त्वत्व स्वरूपा सामान्यता कहलाती है । इसलिए उन-उन रूपों के द्वारा होने वाले विवेकग्रहों की मोक्षहेतुता में अननुगम दोष होता है । तब उत्तर पक्ष में कहते हैं कि—अभिमान के प्रतिवन्धक (रोकने वाली) ज्ञानता से ही अननुगम हो जाने की वजह से युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता । अब कहते हैं कि इस प्रकार से सामान्य के रूप से ही विवेकज्ञान की ही सम्पूर्ण अभिमान के हटाने की स्थिति द्वारा मैं शरीर नहीं हूं; मैं इन्द्रियाँ नहीं हूं; इत्यादि प्रत्येक रूप के द्वारा विवेकग्रहण की मोक्ष हेतुता वेदों और स्मृतियों में जो बतलाई जाती है । वह कैसे घटित हो सकती है । यदि कोई ऐसा कहे तो उत्तर है कि—ऐसा नहीं समझना चाहिए क्योंकि मध्य में जितने भी विवेक होते हैं । वे सभी सामान्य के रूप से होने वाले विवेक का प्रपञ्च मात्र होते हैं ।

इस प्रकार से श्री विज्ञानभिक्षु के द्वारा लिखे गये सांख्यसार में मोक्ष के कारणभूत विवेक-ज्ञान के स्वरूप का निर्णय करने वाला यह द्वितीय परिच्छेद परिपूर्ण हुआ ।

तृतीयः परिच्छेदः

अथ के ते प्रकृत्यादयो येभ्यः पुरुषो विवेचनीय इत्युच्यते—

"प्रकृतिर्बुद्ध्यहङ्कारो तन्मात्रैकादशेन्द्रियम् ।
भूतानि चेति सामान्याच्चतुर्विंशतिरेव ते ॥"

एतेष्वेव धर्मधर्म्यभेदेन गुणकर्मसामान्यानामन्तर्भावः । तत्र प्रकृतित्वं साक्षात् परम्परयाऽखिलविकारोपादानत्वम्—प्रकृष्टा कृतिः परिणामरूपा अस्या इति व्युत्पत्तेः। प्रकृतिः शक्तिरजा प्रधानमव्यक्तं तमो मायाऽविद्येत्यादयः प्रकृतेः पर्यायाः ।

"ब्राह्मीति विद्याविद्येति मायेति च तथा परे ।
प्रकृतिश्च परा चेति वदन्ति परमर्षयः ॥"
इति स्मृतेः ।

वे प्रकृति आदि तत्त्व कौन-कौन से हैं ; जिनसे पुरुष को विविक्त करना चाहिए । इसी दृष्टि से कहा जाता है कि—"प्रकृति, बुद्धि, अहङ्कार, शब्द-तन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, गन्धतन्मात्र, मन, श्रोत्रेन्द्रिय, त्वगिन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, वागिन्द्रिय, हस्तेन्द्रिय, पादेन्द्रिय पायिवन्द्रिय, उपस्थेन्द्रिय, आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी सामान्यतः ये इस प्रकार से चौवीस ही तत्त्व प्रकृत्यादि माने जाते हैं ।'

धर्म और धर्मी में अभेद होने की वजह से इन्हीं चौवीस तत्त्वों में गुण, कर्म और सामान्य का भी अन्तर्भाव हो जाता है। बहुत उत्तम कोटि का परिणाम रूपी निर्माण होता है, इसका इस व्युत्पत्ति से साक्षात् एव परम्परा द्वारा सम्पूर्ण विकारों की उपादानता ही प्रकृति का प्रकृतित्व है। प्रकृति, शक्ति, अजा, अव्यक्त, प्रधान, तम, माया, अविद्या इत्यादि प्रकृति के पर्याय हैं। स्मृति में लिखा भी है कि—

"ब्राह्मी, विद्या, अविद्या, माया, प्रकृति और परा, इस तरह से उत्कृष्ट महर्षि लोग प्रकृति के नाम कहते हैं ।"

साच साम्यावस्थयोपलक्षितं सत्त्वादिद्रव्यत्रयम्। कार्यसत्त्वादिवारणायोप-लक्षितान्तम्। साम्यावस्था च न्यूनाधिकभावेनासंहननावस्था, अकार्यावस्थेति यावत्। महदादिकन्तु कार्य्यंसत्त्वादिकं न कदाप्यकार्यावस्थम्भवतीति तद् व्यावृत्तिः। वैषम्यावस्थायामपि प्रकृतित्वसिद्धये उपलक्षितमित्युक्तम्। अकार्यमिति तूपलक्षितान्तस्य निष्कृष्टार्थः।

और वह साम्यावस्था के द्वारा उपलक्षित सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण ये तीनों द्रव्य ही प्रकृति हैं। कार्य सत्वादि को प्रकृति न समझ लिया जाए; इसी-लिए लक्षण में उपलक्षित शब्द का प्रयोग किया गया है और साम्यावस्था न्यूनाधिक भाव से असंहननावस्था ही अकार्यावस्था या साम्यावस्था कहलाती है। तथा महदादि के कार्य सत्त्वादि तो कभी भी अकार्यावस्थ होते ही नहीं है। इसलिए उनकी व्यावृत्ति वैसे ही हो जाती हैं। वैषम्यावस्था में भी प्रकृतित्व की सिद्धि के लिए उपलक्षित-पद का प्रयोग किया गया है। अकार्य पद का प्रयोग तो उपलक्षित पद के प्रयोग का तत्त्वार्थ ही है। अर्थात् उप-लक्षित पद को स्पष्ट करने के लिए ही अकार्य पद का प्रयोग किया गया है।

सत्त्वादिगुणवती सत्वाद्यतिरिक्ता प्रकृतिरिति न शङ्कनीयम् "सत्त्वादी-नामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्" इति सांख्यसूत्रेण सत्त्वादीनां प्रकृतिस्वरूपहेतुना प्रकृतिधर्मत्वप्रतिषेधात्, योगसूत्रतद्भाष्याभ्यामपि गुणनामेव प्रकृतिधर्मत्वप्रतिषे-धात् योगसूत्र-तद्भाष्याभ्यामपि गुणानामेव प्रकृतित्ववचनाच्च। गुणेभ्य एव कार्योत्पत्तौ तदन्यप्रकृतिकल्पनावैयर्थ्याच्च। प्रकृतेर्गुणा इत्यादिवाक्यन्तु वनस्य वृक्षा इतिवत्-बोध्यम्। "सत्त्व रजस्तम इति प्रकृतेरभवन् गुणाः" इति सत्त्वादीनां प्रकृतिकार्यत्ववचनन्तु गुणनित्यता-वाक्यविरोधेन महत्तत्त्वकारणी-भूतकार्यसत्त्वादिपरमेव। महदादिसृष्टिर्हि गुणवैषम्याच्छ्रूयते। तच्च वैषम्यं सजातीयसंवलनेन गुणान्तरव्यावृतप्रकाशादिफलोपहितः सत्त्वादिव्यवहारयोग्यः परिणाम इति। एतेनाष्टाविंशतितत्त्वपक्षोऽप्युपपादितो मन्तव्यः।

सत्त्वादिगुणों से युक्त प्रकृति होती है इसकी वजह से सत्त्वादि के अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण इन तीनों गुणों से अलग प्रकृति नाम का तत्त्व है; ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए। "सत्त्व आदि की प्रकृति धर्मता नहीं होती। अर्थात् जो सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण को प्रकृति का धर्म नहीं माना जा सकता है; क्योंकि वे स्वयं ही प्रकृतिस्वरूप है।" इस प्रकार के सांख्य सूत्र के द्वारा सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की प्रकृति की स्वरूपा-धायकता बतलाने के हेतुवश इन गुणों में प्रकृति की धर्मता का निषेध किया गया है। पातञ्जलयोग सूत्रों और उनके व्यासभाष्य द्वारा भी गुणों को ही

प्रकृति बतलाया गया है। दूसरी बात यह है, कि—सुख-दुःख मोहात्मक कार्य जगत् की उत्पत्ति, सुख दुःख मोहात्मक इन तीनों गुणों से ही होने पर इनसे अलग प्रकृति नाम के तत्व की कल्पना करना व्यर्थ होने से भी अलग से प्रकृति की कल्पना नहीं की जा सकती। प्रकृति के गुण इत्यादि वाक्य तो वन के वृक्ष इत्यादि वाक्यों की तरह ही समझने चाहिए। अर्थात् जिस प्रकार से सभी वृक्षों को समष्टि रूप में वन कहा जाता है। अर्थात् वे वृक्ष ही वनत्व को धारण करते है। वृक्षों को हटा देने के बाद वन नामकी कोई वस्तु नहीं रह जाती। उसी प्रकार से प्रकृति के गुण इत्यादि वाक्य भी प्रयुक्त होते अवश्य हैं किन्तु गुणों के अलावा प्रकृति नाम का कोई तत्त्व नहीं होता है। फिर भी तीनों गुणों को ही समष्टि रूप में प्रकृति नाम से व्यवहृत किया जाता है।

श्रीमद्भागवत महापुराण के ग्यारहवें स्कन्ध के चौवीसवें अध्याय के पाँचवें श्लोक में सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण ये तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं ऐसा प्रतिपादन हुआ है। इस प्रकार से जो सत्त्वादि गुणों को प्रकृति के कार्य के रूप में प्रतिपादित किया गया है। महतत्व आदि के कारण भूत कार्य सत्व आदि को स्पष्ट करने के लिए ही कहा गया है। अन्यथा गुणों की नित्यता प्रतिपादन करने वाले सम्पूर्ण वचनों के साथ विरोध प्रस्तुत होता है। उस विरोध का परिहार करने के लिए भागवत के इस श्लोक का आशय कार्य सत्वादि परक मानना ही युक्तियुक्त है। और महदादि तत्वों की सृष्टि निश्चित रूप से गुणों की विषमता से ही बतलायी गयी है। और वह वैषम्य सजातीय गुण के संवलन से और दूसरे गुण से अलग प्रकाशादि फलों की उपाधि से युक्त सत्वादि के व्यवहार के लायक जो परिणाम उपस्थित होता है; वही वैषम्य कहलाता है। और इस तरह से अट्ठाइस तत्व मानने वाला सांख्यपक्ष भी प्रतिपादित हो गया है। ऐसा मानना चाहिए।

वैषम्य एव सत्त्वादिव्यवहारश्च श्रुतौ दृश्यते; यथा "तम एवेदमग्र तत्परेणेरितं विषमत्वं प्रयात्येतद् वै रजसो रूपं तद्रजः खल्वीरितं विषमत्वं प्रयात्येतद् वै सत्त्वस्य रूपम्" इति। सत्त्वादित्रयञ्च सुखप्रकाशलाघवप्रसादादि-गुणवत्तया संयोगविभागादिमत्तयाऽनाश्रितत्वोपादानत्वादिना च द्रव्यत्वेऽपि पुरुषोपकरणत्वात् पुरुषबन्धकत्वाच्च गुणशब्देनोच्यते, इन्द्रियादिवत्। गुणानां सुखदुःखमोहात्मकत्वप्रवादस्तु धर्मधर्म्यभेदात्. मनसः सङ्कल्पात्मकत्ववत्। तत्र सत्त्वं सुखप्रसादप्रकाशाद्यनेकधर्मकं प्राधान्यतस्तु दुःखात्मकमुच्यते तथा तमोऽपि मोहावरणस्तम्भनाद्यनेकधर्मकं प्राधान्यतस्तु मोहात्मकमुच्यते। त एव धर्मास्तेषां लक्षणानि भवन्ति।

वैषम्यावस्था में ही सत्वादि का व्यवहार वेदों में देखा जाता है जैसे मैत्रायणी आरण्यक में मन्त्र है कि "यह सब कुछ पहले तम ही था, वही परमात्मा से प्रेरित होकर विषमता को प्राप्त होता है। यही निश्चित रूप से रजोगुण का रूप है। यही निश्चित रूप से रज कहा गया है और यही विषमता को प्राप्त होता है जो निश्चित रूप से सत्व का रूप है।" सत्व रज और तम ये तीनों ही गुण सुख, प्रकाश, लाघव, प्रसन्नता आदि युक्त होने की वजह से, संयोग और विभाग युक्त होने की वजह से, अनाश्रितता और उपादानता आदि वैशिष्टयों के अभाव से, तीनों के ही द्रव्यता से युक्त होने पर भी पुरुष के साधन होने के कारण और पुरुष को बन्धन में डालने वाले होने की वजह से ही गुण कहलाते हैं; सो इन्द्रियादि की तरह ही हैं। गुणों के सुख दुःख मोहस्वरूपता का प्रवाद तो धर्म और धर्मी में अभेद होने की वजह से ही होता है, मन की संकल्पात्मकता की तरह ही यह प्रयोग है। उनमें से सत्त्वगुण सुख, प्रसन्नता, ज्ञानात्मक प्रकाश आदि अनेक वैशिष्टयों से युक्त होता है। फिर भी मुख्य रूप से उसे सुखात्मक ही कहा जाता है। इसी प्रकार से रजोगुण भी दुःख, पाप, नैकविध कर्मों में आवेशपूर्वक प्रवृत्ति, आदि अनेक वैशिष्टयों से विशिष्ट होता है, परन्तु प्रधानरूप से दुःखात्मक ही कहा जाता है। वैसे ही तमोगुण भी अज्ञानजन्य आसक्ति, ज्ञान के ऊपर पर्दा डालना प्रकृति के अन्दर रुकावट पैदा करना, आलस्यादि अनेक विशेषताओं से युक्त होता है; परन्तु मुख्य रूप से तो मोहात्मक ही कहा जाता है। सुख, दुःख मोह, आदि वे धर्म ही सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण उन तीनों के लक्षण होते हैं।

सत्त्वादिसंज्ञा चान्वर्था, सतोभावः सत्त्वमुत्तमत्वमिति व्युत्पत्त्या हि धर्मप्राधान्येनोत्तमं पुरुषोपकरणं सत्त्वपदार्थः। मध्यमञ्च रजःशब्दार्थो रागयोगात्। अधमञ्च तमः शब्दार्थः अधर्मावरणयोगात्। तानि च सत्त्वादीनि प्रत्येकमसङ्ख्यव्यक्तयः, "लघुत्वादिधर्मैरन्योऽन्यं साधर्म्यं वैधर्म्यञ्च गुणानाम् इति सांख्यसूत्रात्। अत्र हि सूत्रे लघुत्वादिना बहूनां सत्त्वानां साधर्म्यं तेनैव रजस्तमोभ्यां वैधर्म्यम्। एवं चलत्वादिना गुरुत्वादिना च बहूनां रजसां बहूनाञ्चतमसां तदुभयमुक्तमिति। किञ्च यदि सत्वादित्रयमेकैकव्यक्तिरेव स्यात्, तत् त्रयं विभ्वेव वक्तव्यम्, एकदाऽनेकब्रह्माण्डादिसृष्टिश्रवणात्; तथा च संयोगवैचित्र्याद् वैचित्र्यं स्यादिति वाच्यम्; विभूनां त्रयाणां गुणानां स्वतः संयोगवैचित्र्यासम्भवात्, द्रव्यान्तरस्य चावच्छेदकीभूतस्याभावादिति। तस्मात्

सत्त्वादीन्यसङ्ख्यव्यक्तिकान्येव द्रव्याणि। तेषु त्रित्ववचनन्तु सत्त्वत्वादि-विभाजकोपाधित्रयेण वैशेषिकाणां नवद्रव्यवचनवदिति सिद्धम्।

इन तीनों गुणों के सत्त्व आदिनाम सार्थक हैं। "सतो भावः सत्त्वमुत्तम-त्वम्" इस व्युत्पत्ति के द्वारा निश्चित रूप से धर्म की मुख्यता से सत्त्वगुण श्रेष्ठ माना जाता है। यही पुरुष तत्त्व की मुक्ति प्राप्ति में परम साधन होने के हेतुवश सत् श्रेष्ठ में होने वाली महत्ता सत्त्व शब्द से व्यवहृत होती है। और मध्यम स्थिति वाले रजः शब्द का अर्थ होता है राग। क्योंकि राग का योग रजोगुण के कारण ही होता है। तमः शब्द का अर्थ यहाँ अधर्म है; क्योंकि अधर्म के आवरण से युक्त तमोगुण होने के हेतुवश ज्ञान पर आवरण के कारण ही अन्धकार का पर्याय एवं अधर्म का बीज तमोगुण ही तम कहलाता है। और वे सत्त्वगुण रजोगुण एवं तमोगुण प्रत्येकशः असंख्य स्वरूपों वाले अर्थात् असंख्य स्वरूपों में रहने वाले होते हैं। कहने का भाव यह है कि सत्त्वगुण प्रत्येक शरीर में व्याप्त होने के हेतुवश असंख्य हुए। इसी तरह रजोगुण और तमोगुणों को भी असंख्य समझना चाहिए। "लघुत्व इत्यादि धर्मों के द्वारा सभी सत्त्वगुणों का सत्त्व गुणों के साथ, रजोगुणों का रजोगुणों के साथ एवं तमोगुणों का तमोगुणों के साथ परस्पर समान विशेषताओं से विशिष्ट होने की विशेषता स्वरूपी साधर्म्य होता है। तथा सत्त्वगुणों का रजोगुणों एवं तमोगुणों के साथ वैधर्म्य, और तमोगुणों का सत्त्वगुणों तथा रजोगुणों के साथ समान विशेपताओं का परस्पर अभाव अर्थात् वैधर्म्य होता है।" इस सांख्य-सूत्र के प्रथम अध्याय के एक सौ अट्ठाइसवें सूत्र में "सत्त्वादि गुण असंख्य स्वरूपों में प्रत्येकशः रहते हैं।" यह तथ्य स्पष्ट होता है। यहाँ निश्चित रूप से इस सूत्र में लघुत्वादि के द्वारा बहुत से सत्वगुणों का साधर्म्य और उसी लघुत्वादि के द्वारा ही रजोगुण एवं तमोगुणों से वैधर्म्य स्पष्ट किया गया है। इसी प्रकार से चलत्वादि के द्वारा वहुत से रजोगुणों के साधर्म्य वैधर्म्य तथा गुरूत्वादि के द्वारा तमोगुणों के साधर्म्य वैधर्म्य भी वतलाये गये हैं। ऐसा समझना चाहिए। इसी तरह दूसरी वात यह है कि—यदि सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण ये तीनों गुण एक-एक स्वरूप वाले ही हों, तो इन तीनों को विभु ही वतलाना चाहिए; क्योंकि एक समय में ही अनेक कोटि व्रह्माण्डों की अर्थात् महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल, पाताल, भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक, और सत्यलोक ये चौदहलोक मिलकर जो एक व्रह्माण्ड होता है; ऐसे कई करोड़ व्रह्माण्डों का वर्णन शास्त्रों में एक साथ होने का वतलाया गया है। अतः तीनों गुणों को व्यापक ही

मानना पड़ेगा। तभी सभी ब्रह्माण्डों के सृष्टि स्थिति एवं लय सम्भव हैं। और वैसे ही कार्यों की जो अनन्त विचित्रता देखी जाती है। वह भी घटित नहीं हो सकेगी। और संयोग की विचित्रता से ही विचित्रता हो जायगी। ऐसा भी नहीं कह सकते। क्योंकि व्यापक तीनों गुणों का अपने आप संयोग वैचित्र्य हो नहीं सकता। तथा इस विचित्रता का सम्पादन करने वाला इन तीनों गुणों के अलावा चौथा द्रव्य तो है नहीं। जो विचित्रताधान कर सके। इससे यही स्पष्ट होता है कि—सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण ये तीनों द्रव्य असंख्य स्वरूप सम्पन्न स्वयम् ही होते हैं। तीन गुण हैं इत्यादि वचन तो केवल इन द्रव्यों की मूल विशेषताओं की परस्पर विभक्त करने वाली तीन उपाधियों के कारण प्रयुक्त होते हैं। जैसे वैशेषिक लोग नौ प्रकार की विशेषताओं से सम्पन्न होने के हेतुवश निखिल विश्व में व्याप्त सभी द्रव्यों को नौ भागों में विभक्त करके नौ ही द्रव्य होते हैं। ऐसा प्रयोग करते हैं। ठीक वैसे ही असंख्य गुणों के होने पर भी वे सभी गुण तीन प्रकार की विशिष्ट विशेषताओं से सम्पन्न होते हैं। अतः तीन ही गुण कहलाते हैं। अर्थात् गुण तीन नहीं अपितु गुणों के प्रकार ही तीन हैं। यह बात सिद्ध हो गयी।

तानि च सत्त्वादीति यथायोग्यमणुविभुपरिमाणकानि, अन्यथा रजसश्चलस्वभावत्ववचनविरोधात्, आकाशकारणत्वस्य च विभुत्वौचित्यात्, सर्वेषां कारणद्रव्याणां विभुत्वे कार्याणां परिच्छिन्नत्वानुपपत्तेश्च। नन्वेवं वैशेषिकोक्तान्येव पार्थिवाण्वादीनि प्रकृतिरित्यायातमिति चेत्, न; गन्धादिगुणशून्यत्वेन कारणद्रव्येषु पृथ्वीत्वाद्यभावतोऽस्माकं विशेषात्। तदुक्तं विष्णुपुराणादिषु—

> **"अव्यक्तं कारणं यत् तत् प्रधानमृषिसत्तमैः।**
> **प्रोच्यते प्रकृतिः सूक्ष्मा नित्यं सदसदात्मकम्॥**
> **शब्दस्पर्शविहीनं तद् रूपादिभिरसंयुक्तम्।**
> **त्रिगुणं तज्जगद्योनिरनादिप्रभवाप्ययम्॥**

इत्यादिना।

और वे सत्त्वगुण, रजोगुण, व तमोगुण यथायोग्य अणु परिमाण वाले तथा विभुपरिमाण वाले होते हैं। यदि ऐसा न हो तो रजोगुण को जो चल स्वभाव वाला बतलाया गया है। उस वचन का विरोध हो जाता है। और आकाशकारणता की तो व्यापकता मानना उचित होने के हेतुवश भी ऐसा मानना युक्तियुक्त है। और सभी कारण द्रव्यों की विभुता होने पर कार्यद्रव्यों की परिच्छिन्नता की भी युक्तियुक्तता नहीं हो सकती है।

यदि कोई पूर्वपक्षी कहे ; कि—इस प्रकार से तो वैशेषिकों के द्वारा बतलाये हुए पार्थिव अणु आदि ही प्रकृति हुए। ऐसा स्पष्ट होता है ; तो उत्तर में कहते है। कि—ऐसा नहीं है। क्योंकि गन्धादि गुणों से शून्यता के द्वारा कारण द्रव्यों में पृथिवीत्व आदि का अभाव होना, हमारी विशेषता होने से, वैशेषिकों द्वारा प्रतिपादित अणु आदि को ही प्रकृति के रूप में किसी भी तरह से नहीं माना जा सकता। वही बात विष्णुपुराण, वायुपुराण आदि में भी स्पष्ट की गयी है ; कि—

"जो वह सम्पूर्ण सृष्टि का मूल कारण अव्यक्त तत्त्व है, जिसमें यह सम्पूर्ण व्यक्त सृष्टि अन्तर्लीन रहती है। इसीलिए जो परम श्रेष्ठ ऋषियों के द्वारा "प्रधीयन्ते तत्त्वादि यस्मिन् तत् प्रधानम्" जिसमें सम्पूर्ण तत्त्व रहते हैं वही तत्त्व प्रधान कहा जाता है। "प्रकृष्टा कृतिः यस्याः सा प्रकृतिः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि रूपी श्रेष्ठ कृति का कारण भूत तत्त्व ही प्रकृति कहलाता है। वह अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व है। नित्य है; तथा सत् स्वरूप एवं असत् स्वरूप दोनों ही प्रकार की स्वरूपात्मकता युक्त तत्त्व है। वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध से सर्वथा रहित होना है। वह त्रिगुणात्मक तत्त्व ही सम्पूर्ण संसार का उत्पत्ति स्थान है। जो अनादिकाल से विद्यमान है। उसकी न कभी उत्पत्ति होती है ; और न कभी नाश ही होता है।" इत्यादि श्लोकों के द्वारा प्रकृति तत्त्व की त्रिगुणात्मकता, अव्यक्तता, प्रधानता, सूक्ष्मता, नित्यता, सदसदात्मकता, शब्दस्पर्शविहीनता, रूपादि से असम्पृक्तता, जगद्-योनित्व, अनादिता एवं प्रभवाप्यय शून्यता का प्रतिपादन वैशेषिकों के अणु आदि को ही प्रकृति मानने के भ्रम का सर्वथा निराकरण कर देते हैं। अतः कारणद्रव्य में गन्धादि युक्तता मानना युक्तियुक्त नहीं है।

वैशेषिकाणां कारणद्रव्येषु गन्धाद्यनुमानन्तु भाष्येऽस्माभिर्निराकृतम्। अथैवमपिप्रकृतेरणुविभुसाधारणसत्त्वाद्यनेकव्यक्तिरूपत्वेऽपरिच्छिन्नत्वैकत्वा-क्रियत्वसिद्धान्तक्षतिरिति, मैवम् ; कारणद्रव्यत्वरूपप्रकृतित्वेनैवापरिच्छिन्न-त्ववचनात्, गन्धत्वेन गन्धानां पृथिवीव्यापकतावत्, आकाशादिप्रकृतीनां विभुत्वेनैव प्रकृतिविभुत्वसिद्धान्तोपपत्तेश्च। तथा पुरुषभेदेन सर्गभेदेन च भेदाभावस्यैवैकशब्दार्थत्वात्, "अजामेकाम्" इति श्रुतितस्तथाऽवगमात्। अथाध्यवसायाभिमानादिक्रियाराहित्यस्यैवाक्रियशब्दार्थत्वात्, अन्यथा श्रुति-स्मृतिषूक्तस्य प्रकृतिक्षोभस्यानुपपत्तेरिति। प्रकृतिगताश्चापरे विशेषा भाष्ये द्रष्टव्याः। प्रकृत्यनुमानं चेदम्—सुखदुःखमोहात्मकं महदादिकार्यं सुखदुःख-मोहात्मकद्रव्यकार्यं सुखदुःखमोहात्मकत्वात् वस्त्रादिकार्यंशय्यादिवदिति।

श्रुतिस्मृती चात्रानुग्राहकस्तर्कः । एवं सामान्यतोऽनुमितायाः प्रकृतेर्विशेषाः शास्त्राद् योगाच्चावगन्तव्याः; अनुमानस्य सामान्यमात्रविषयकत्वात् । नन्वन्तरेव सुखादिकमुपलभ्यते, बाह्यवस्तुषु सुखादौ किं प्रमाणं येन दृष्टान्तता स्यात् ? इति । उच्यते—अन्तःकरणस्य सुखादिहेतुतया विषयेषु सुखादिकं सिध्यति ; न च रूपादिगतोत्तमत्वादिकमेव सुखाद्युत्पादने नियामकम्, उत्तमत्वादेर्जातिरूपत्वे नीलत्वपीतत्वादिना जातिसाङ्कर्यापत्तेः, कालादिभेदैरेकस्या एव रूपव्यक्तेः सुखदुःखोत्पादकत्वाच्च । अतः सुखादिमत्त्वमेवोत्तमत्वादिकम् । किञ्च घटरूपमिति प्रत्ययवत् स्त्रीसुखं चन्दनसुखमित्यादिप्रत्ययादपि विषये सुखाद्युचितम् । अधिकन्तु भाष्ये द्रष्टव्यम् । तदेवं प्रकृतिर्निरूपिता ।

श्री विज्ञान भिक्षु स्पष्ट करते हैं, कि वैशेषिकों के द्वारा किए जाने वाले कारण द्रव्यों में गन्धादि के अनुमान का निराकरण तो हमने सांख्य प्रवचन भाष्य के प्रथमअध्याय के वासठवें तथा पैंसठवें सूत्रों के भाष्य में सुस्पष्ट रूप से किया है । अब भी कोई इस प्रकार की स्थिति में भी कहे कि प्रकृति की अणु विभु साधारण सत्त्व आदि की अनेक स्वरूपों में अभिव्यक्ति स्वरूपता मान लेने पर तो प्रकृति की अपरिछिन्नता, एकता तथा अक्रियाशीलता का सिद्धान्त नष्ट हो जाता है । तो उत्तर में कहते हैं, कि—इस प्रकार मत कहो, क्योंकि कारण द्रव्यता से युक्त जो प्रकृतित्व है उसी की अपरिछिन्नता बतलायी गई है । जैसे गन्धवती पृथिवी होती है । अतः जहाँ जहां गन्धता होगी, वहाँ-वहाँ पृथिवी होगी । इसीलिए पृथिवी में उन गन्धों की व्यापकता मानी जाती है । और आकाश आदि की प्रकृतियों की विभुता का सिद्धान्त युक्ति-युक्त सिद्ध होता है । वैसे ही पुरुषभेद की दृष्टि से एवं सृष्टिभेद की दृष्टि से भी भेद का अभाव रहने का ही भाव एक शब्द के प्रयोग द्वारा समभिव्यक्त किया गया है । क्योंकि "अजामेकाम" इत्यादि श्रुति वचन से भी वैसा ही समझा जाने के हेतुवश भी प्रकृति का अजत्व एवं एकत्व स्पष्ट होता है । अध्यवसाय, अभिमान इत्यादि क्रियाओं के साक्षात् नहीं करने का भाव ही अक्रिय शब्द के द्वारा प्रकट किया जाने के हेतुवश भी मूल प्रकृति को उसके द्वारा साक्षात् अध्यवसाय, अभिमान आदि क्रियाओं के न होने से उसे अक्रिय कहा गया है । यदि ऐसा न माना जाय तो वेदों एवं स्मृति ग्रन्थों में जो प्रकृति में क्षोभ बतलाया गया है । और उससे महत्तत्त्व में ही अध्यवसाय तथा उस महत्तत्त्व से प्रकट हुए अहंकार में ही अभिमान प्रभृति क्रियायें जो बतलायी जाती हैं, उनका प्रतिपादन युक्ति-युक्त सिद्ध नहीं हो सकेगा । इस दृष्टि से भी मूलप्रकृति को निष्क्रिय मान लेना ही युक्ति-युक्त सिद्ध होता है ।

श्री विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि प्रकृति में रहने वाले अन्य वैशिष्ट्यों की जिज्ञासापूर्ति सांख्यप्रवचन भाष्य से करनी चाहिए । क्योंकि सांख्य सूत्र के सांख्यप्रवचन भाष्य द्वारा प्रथम अध्याय के इक्सठवें, पैंसठवें, पिचहत्तरवें व छिहत्तरवें सूत्रों में, तथा एक सौ पच्चीसवें सूत्र से एक सौ पैंतीसवें सूत्र पर्यन्त के सभी सूत्रों में प्रकृति के वैशिष्ट्यों का प्रतिपादन किया गया है । प्रकृति नाम के तत्त्व का अनुमान करने की प्रक्रिया इह प्रकार है कि—संसार में उपलब्ध ये महदादि सम्पूर्ण कार्य सुख-दुःख मोहमय हैं । अतः सुख-दुःख मोहमय द्रव्य के ही कार्य हैं । क्योंकि ये सभी सुख-दुःख मोहस्वरूप ही हैं । वस्त्र आदि के कार्य शय्या आदि की तरह तथा "कारणगुणाः, कार्यगुणानारभन्ते" इस सूत्र के अनुसार भी स्पष्ट है कि सुख-दुःख मोहात्मक सम्पूर्ण महदादि तत्त्वों का मूलकारण भी सुख-दुःख मोहमय ही हो सकता है । अतः त्रिगुणात्मिका सुख-दुःख मोहमयी प्रकृति ही कारण है । और यह तर्क श्रुति एवं स्मृति सम्मत एवं अनुगृहीत करने वाला तथा वैदिक व स्मार्त्त सिद्धान्तों को ही स्पष्ट करने वाला है । अतः सर्वथा स्वीकार्य है ।

इस प्रकार प्रकृति सामान्यतया अनुमान से सिद्ध होती है । किन्तु इसके वैशिष्ट्यों को शास्त्र से समझना चाहिए । और योग से उनका सही-सही स्वरूप में साक्षात्कार करना चाहिए । क्योंकि अनुमान तो केवल सामान्य विषयक ही होता है, अर्थात् अनुमानप्रमाण द्वारा प्रकृति विषयक सामान्य ज्ञान तो हो जाता है । फिर भी उसके अशेष विशेषों का सही-सही स्वरूपाव-बोध तो शास्त्रों का विशेष अनुशीलन करके योगाभ्यास करने के द्वारा उनका सर्वथा साक्षात्कार करने पर ही होता है । पातंजल योग दर्शन के प्रथम पाद के पच्चीसवें सूत्र के व्यासभाष्य में स्पष्ट किया गया है, कि—अनुमान प्रमाण तो सामान्याववबोध मात्र में क्षीण हो जाता है । अतः वह विशेष की उपलब्धि करा सकने में समर्थ नहीं होता है ।

यदि कोई आशंका करता है, कि सुख-दुःख मोहादि की उपलब्धि तो अन्तःकरण में ही होती है । तो फिर वाह्यवस्तुओं में सुख-दुःख मोहादि की उपलब्धि का क्या प्रमाण है ? जिससे दृष्टान्तता स्वीकार की जाय । तो इस आशङ्का का समाधान करते हुए श्री विज्ञानभिक्षु लिखते हैं, कि—अन्तःकरण की सुखादिहेतुता से शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध में सुख-दुःख मोह होते हैं, यह सिद्ध होता है । और रूपादि में रहने वाली उत्तमता आदि ही सुखादि को उत्पन्न करने में नियामक हो ऐसी बात नहीं है । अर्थात् ऐसा होना जरूरी नहीं है । उत्तमता आदि की जातिका स्वरूपता स्वीकृत करने पर तो

नीलापन, पीलापन आदि के द्वारा भी जातिसाङ्कर्य दोष उपस्थित होने का दोष आ सकने की आपत्तिवश तथा कालादि के भेदों से एक स्वरूप की अभिव्यक्ति कभी सुखोत्पादक और कभी दुःखोत्पादक होने के हेतुवश भी और अन्तःकरण की सुखादि में हेतुतावश भी विषयों में सुखादि होते हैं। यह बात सिद्ध होती है। इसलिए सुख-दुःख मोह युक्तता ही उत्तमता, मध्यमता एवं अधमता होती है। और दूसरी बात यह है कि जैसे घड़े के रूप का बोध होता है। इसी की तरह स्त्री के मुख एवं चन्दनादि से सुखानुभूति होती है। जिससे शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्धों में सुख-दुःख मोह मानना उचित ही है। इस विषय पर साँख्यप्रवचनभाष्य के प्रथम अध्याय के सत्ताइसवें सूत्र के भाष्य में विशेष स्पष्टीकरण किया गया है। अतः विशेष देखना चाहें, तो तदर्थ सांख्यप्रवचनभाष्य देखना चाहिए। इस प्रकार से प्रकृति नामक तत्व का निरूपण किया गया है।

महत्तत्त्वन्निरूप्यते—

प्रकृतेः सकाशाद्—बुद्ध्याख्यं महत्तत्त्वं जायते ; तस्य धर्मादिरूपं प्रकृष्ट-गुणयोगात् महत्संज्ञा, तदेव च लक्षणम्। महान् बुद्धिः प्रज्ञे—त्यादयश्च तस्य पर्यायाः ; तथा चोक्तमनुगीतायाम्—

"महानात्मा मतिर्विष्णुर्जिष्णुःशम्भुश्च वीर्यवान्। बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च तथा ब्रह्मा धृतिः स्मृतिः। पर्यायवाचकैरेतैर्महानात्मा निगद्यते।

सर्वतः पाणिपादश्च सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः।
सर्वतः श्रुतिमांल्लोके सर्वं व्याप्य स तिष्ठति॥
अणिमा लघिमा प्राप्तिरीशानो ज्योतिरव्ययः।
ज्ञानवन्तश्च ये केचिदलुब्धा जितमन्यवः॥
विमुक्ताः सर्व एवैते महत्तत्त्वमुपयान्त्युत।
विष्णुरेवाऽऽदिसर्गेषु स्वयम्भूर्भवति प्रभुः।" इति।

महत् तत्त्व का निरूपण किया जाता है—प्रकृति से बुद्धि नाम द्वारा व्यवहृत होने वाला महत् तत्त्व उत्पन्न होता है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य, आदि प्रकृष्ट गुणों का योग होने के हेतुवश इस तत्त्व को महत् तत्त्व कहते हैं। और वही उसका लक्षण भी होता है। महान् बुद्धि, प्रज्ञा इत्यादि उसके पर्याय हैं। वैसे ही अनुगीता में कहा भी है, कि—"महान्, आत्मा, मति, विष्णु, जिष्णु, शक्तिशाली शम्भु, बुद्धि, प्रज्ञा, उपलब्धि, ब्रह्मा, धृति, स्मृति इन सभी पर्यायवाचक शब्दों के द्वारा महत् तत्त्व का व्यवहार किया जाता है।

महत् तत्त्व सब कुछ वस्तुओं को व्याप्त करके स्थित है। अतः उसके सभी

तरफ हाथ, पैर, आँख, शिर, मुँह और श्रोत्र हैं अर्थात् जितने भी हस्तादि हैं, सब उसी के हैं। छोटे से छोटा और हल्के से हल्का बनने वाला अप्राप्त प्रेप्सित सभी वस्तुओं को यहीं से प्राप्त कर सकने के सामर्थ्य से सम्पन्न सब पर शासन करने वाली और कभी नष्ट न होने वाली ज्योति के स्वरूप में रहने वाला ही महत् तत्त्व होता है।

क्रोध को जीत लेने वाले कुछ भी लालच न करने वाले, और जो ज्ञान सम्पन्न व्यक्ति, संसार के घोर कष्टों से सर्वथा मुक्त होकर महत्तत्त्व में लीन हो जाते हैं। अपने आप प्रकट होने वाला, सर्वत्र व्याप्त रहने के हेतुवश विष्णु नाम से व्यवहृत होने वाला तत्त्व महत्तत्त्व ही सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकट होता है। क्योंकि वह ऐसे सामर्थ्य से सम्पन्न है कि वह जब चाहे, जो चाहे, जहाँ चाहे, जैसे चाहे वैसे ही स्वरूप में वहीं प्रकट हो सकता है, तथा-यथा तथा अन्यथा जो चाहे सो कर सकने में समर्थ होता है। इसीलिए महत्तत्त्व ही प्रभु कहलाता है।

अत्र सत्त्वशिद्यंत्रयेण महतो देवतात्रयोपाधित्वात् तदविवेकेन ब्रह्म-विष्णु शिवत्ववचनम्। तदुक्तं विष्णौ—सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्च त्रिधा महान् इति। मात्स्ये च—

"सविकारात् प्रधानात्तु महत्तत्त्वमजायत।
महानिति यतः ख्याति र्लोकानां जायते सदा॥
गुणेभ्यः क्षोभ्यमाणेभ्यस्त्रयो देवा विजज्ञिरे।
एका मूर्त्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः॥ इति।

अणिमेत्यादिभावनिर्देशो धर्मधर्म्यभेदात्। ब्रह्मशङ्करापेक्षयाप्यादौ विष्णु-रूपेणैव महानाविर्भवतीति "विष्णुरेव" इत्यर्द्धेनोक्तम् (अश्वः ४०/११)।

यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण ये तीनों महत्तत्त्व के अंश ही ब्रह्मा विष्णु तथा महेश्वर इन तीनों देवताओं की उपाधिता को प्राप्त करने वाले होने के हेतुवश महत्तत्त्व ही ये तीनों देवता हैं। किन्तु तद् विषयक विवेक ज्ञान नहीं होने के कारण ही सत्त्व गुण विशिष्ट महत्तत्त्वोपाधि ही विष्णु कहलाती है। इसी तरह रजोगुण विशिष्ट महत्तत्त्व की उपाधि ही ब्रह्मा कहलाती है। तथा तमोगुण विशिष्ट महत्तत्त्व की उपाधि ही शिव कहलाती है। वही बात विष्णु पुराण में लिखी है कि—सात्त्विक राजस, और तामस महत्तत्त्व ही तीनों स्वरूपों में होता है। मत्स्य पुराण में भी लिखा है कि विकार युक्त प्रकृति से ही महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ; जिस से हमेशाँ लोकों की प्रसिद्धि महान् के नाम से होती है। क्षुब्ध किए जाते हुए तीनों गुणों से तीनों देवता उत्पन्न हुए। एक ही मूर्ति है, जिसके ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर ये

तीनों देवताओं के स्वरूप हैं। अणिमा इत्यादि भाव का निर्देश तो धर्म धर्मी में एकाकारता की वजह से किया गया है। महत् तत्त्व सबसे पूर्व विष्णु स्वरूप से ही प्रकट होता है। उसके बाद ब्रह्मा के रूप में और ब्रह्मा के बाद शिव के स्वरूप में प्रकट होता है। विष्णु ही सर्वप्रथम प्रकट होता है ; ऐसा इस आधे श्लोक द्वारा कहा गया है। (अश्व० ४०/११)

इदमेव महत्तत्त्वमंशतो रजस्तमःसम्भेदेन परिणतं सत् व्यष्टिजीवानामुपाधि-धर्मादियुक्तं क्षुद्रमपि भवति—"महदुपरागाद् विपरीतम्" इति सांख्यसूत्रात्। महत्तत्त्वस्य प्राधान्येनासाधारण्येन चाध्यवसायो वृत्तिः, महदहङ्कारमनस्त्रितयात्मकस्यान्तःकरणस्य महत्तत्त्वं बीजावस्थेति। अत्र प्रकृतेर्महान्, महतोऽहङ्कार इत्यादिसृष्टिक्रमे शास्त्रमेव प्रमाणम् अनुमानेन सामान्यतः कार्याणां सकारणत्वमात्रसिद्धेः, न तु सृष्टौ भूतादिक्रमो वाऽन्तःकरणादिक्रमो वेत्येकतरावधारकमनुमानं सम्भवति, स्पष्टलिङ्गाभावात्। श्रुतिस्मृत्युनुगृहीतं यथाकथञ्चिल्लिङ्गन्तु महदादिक्रमेऽस्तीति भाष्येऽस्माभिःप्रदर्शितम्। महत्तत्त्वं निरूपितम्।

यही महत् तत्त्व आंशिक रूप से रजोगुण तथा तमो गुणों के साथ मिलकर परिणत होता हुआ व्यष्टि जीवात्माओं की उपाधि धर्म-ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य से भी युक्त होता है। 'महदुपरागाद्विपरीतम्' अर्थात् महत्तत्त्व ही रजोगुण एवं तमोगुण के उपराग के प्रभाववश विपरीत अर्थात् अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य से युक्त भी हो जाता है। इस तरह से सांख्यदर्शन के द्वितीय अध्याय के पन्द्रहवे सूत्र द्वारा इस विषय को सुस्पष्ट किया गया है।

महत् तत्त्व की मुख्य रूप से निश्चय करना (अध्यवसाय) ही वृत्ति होती है। महत् तत्त्व, अहंकार तत्त्व और मनस्तत्त्व, इन तीनों ही अन्तः करणों की महत् तत्त्व ही बीजावस्था है। इस विषय में सांख्यकारिका द्वारा प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहकारः प्रकृति से महत् तत्त्व, महत् तत्व से अहकार तत्व इत्यादि प्रकार से जो सृष्टि का क्रम बतलाया गया है उसका प्रमाण सांख्यशास्त्र स्वय ही है। अनुमान के द्वारा तो सामान्य रूप से कार्यो की सकारणता मात्र सिद्ध होने के कारण यहां शास्त्र को ही स्वयं प्रमाण मानना पड़ता है। क्योंकि स्पष्ट लिंग न होने के हेतुवश सृष्टि में भूतादिक्रम या अन्तःकरणादि क्रम इन दोनों में से एक क्रम को निश्चित करने वाला —अनुमान हो सकना सम्भव न होने के हेतुवश भी ऐसा मानना जरूरी होता है। वेदों तथा स्मृतियों द्वारा समनुमोदित जैसे वैसे किसी भी तरह लिंग तो महदादिक्रम के विषय में है ही। ऐसा श्री विज्ञानभिक्षु कहते हैं; कि सांख्यप्रवचन भाष्य के द्वितीय

अध्याय के दशवें सूत्र के भाष्य में इस तथ्य को सुस्पष्ट रूप से बतलाया गया है। इस तरह महत् तत्व का निरूपण कर दिया गया।

अहङ्कारो निरूप्यते—

महत्तत्त्वादहङ्कार उत्पद्यते, अङ्कुराच्छाखिवत्। तस्य चाभिमानवत्तिकत्वादहङ्कारसंज्ञा, कुम्भकारसंज्ञावत्; तदेव लक्षणम्। तस्य च पर्यायाः कौर्मे प्रोक्ताः—

"अहङ्कारोऽभिमानश्च कर्त्ता मन्ता च संस्मृतः।
आत्मा देही च जीवश्च यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥ इति।

स चाहङ्कारस्त्रिविधतया त्रिविधकार्यहेतुः। तदुक्तं कौर्मे—

"वैकारिकस्तैजसश्च भूतादिश्चैव तामसः।
त्रिविधोऽयमहङ्कारो महतः सम्बभूव ह॥

तैजसादिन्द्रियाणि स्युर्देवा वैकारिकाद्दश।
एकादशं मनश्चात्र स्वगुणेनोभयात्मकम्॥
भूततन्मात्रसर्गस्तु भूतादेरभवन् प्रजाः॥ इति॥

वैकारिकः सात्त्विकः तैजसः राजस.। स्वगुणेनेन्द्रियवृत्तिषु साहाय्यरूपेणोत्कर्षेण उभयात्मकं ज्ञानकर्मोभयेन्द्रियात्मकम्; "अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्" इत्यादिश्रुत्या मनसो ज्ञानकर्मोभयेन्द्रियसहकारित्वसिद्धेरिति—एकादशेन्द्रियदेवाश्च — दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकामचन्द्राश्च —इत्यहङ्कारो निरूपितः।

अहंकार का निरुपण किया जाता है। जैसे अंकुर से वृक्ष होता है। उसी प्रकार महत् तत्व से अहंकार उत्पन्न होता है। जैसे घड़े का (कुम्भ का) वनाने वाला होने की वजह से वह (घट निर्माता) ही कुम्भकार कहलाता है। वैसे ही अभिमान वृत्ति वाला होने के हेतुवश अर्थात् 'मैं ऐसा हूं' "मैं वैसा हूं" इत्यादि रूप से अहंकृति स्वरूप अन्तःकरण होने के कारण ही अभिमान वृत्ति वाले अन्तःकरण को अहंकार कहते हैं। वही उसका लक्षण भी होता है। जो सांख्यकारिका में तथा सांख्य सूत्रों में अभिमानोऽहंकारः' इस तरह से प्रतिपादित किया गया है। उस अहंकार के पर्यायवाची कूर्मपुराण में लिखे हैं; कि—अहंकार को अभिमान कर्त्ता और मन्ता नामों से शास्त्रकारों ने स्मर्ण किया है। इसी तरह उसी को आत्मा, देही और जीव भी कहा गया है। जिसमें सम्पूर्ण प्रवृत्तियां प्रवृत्त होती रहती हैं। और वह अहंकार तीन प्रकार

का होने के हेतुवश तीन प्रकार के कार्यों का कारण बनता है। अर्थात्— अहंकार सात्त्विक अहंकार, राजस अहंकार और तामस अहंकार ही वैकारिक, तैजस और भूतादि कहलाता है। जिससे क्रमशः इन्द्रियों के देवता, इन्द्रियाँ और पंच तन्मात्र उत्पन्न होते हैं। वही बात कूर्मपुराण में भी लिखी है कि—

"निश्चित रूप से महत् तत्व से ही वैकारिक (सात्विक), तैजस (राजस) एवं भूतादि (तामस) इस तरह से तीन प्रकार का अहंकार उत्पन्न होता है। इस तीनों प्रकार के अहंकार से अर्थात् सात्विक-अहंकार से इन्द्रियों के देवता और मन उत्पन्न होते हैं। तैजस अहंकार से पाँच ज्ञानेन्द्रियां तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ एवं मन उत्पन्न होते हैं। ग्यारहवीं इन्द्रिय मन ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों का समभाव से उपकारक होने के हेतुवश उभयेन्द्रिय कहलाता है। और भूतादि (तामस) अहंकार से शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र एवं गन्धतन्मात्र ये पांचों तन्मात्र उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार से अहंकार की इस सृष्टि में ये उपर्युक्त तत्व उत्पन्न हुए।

वैकारिक शब्द का अर्थ यहाँ सात्विक होता है, और तैजस शब्द का अर्थ राजस होता है। क्योंकि प्रथम विकृति महत् तत्व सत्वगुण विशिष्ट तत्व है। अतः प्रथम विकार ही मुख्य रूप से विकार के नाम से पुकारा जाता है अतः विकार शब्द सत्वगुण के लिए रूढ हुआ और सात्विक को वैकारिक कहा गया है। इसी तरह रजोगुण में चञ्चलता, तेजी व जोश रहते हैं। अतः तेजो विशिष्ट गुण रजोगुण ही सम्पूर्ण क्रियाओं का तेजी से प्रवर्त्तक होता है। इसी-लिए राजस अहंकार को तैजस कहा गया गया है।

"लोक में मन के लिए कहा गया है कि—वह स्वगुण से उभयात्मक होता है। अर्थात् यहां पर ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ इन दोनों प्रकार की इन्द्रियों की समभाव से सहायता करने का जो वैशिष्ट्य है। उसी वैशिष्ट्य का प्रति-पादक स्वगुण शब्द इस लोक में प्रयुक्त हुआ है। उभयात्मक शब्द का तात्पर्य यहाँ ज्ञानेन्द्रियों का उपकारक होकर ज्ञान करवाने वाला होने से ज्ञानेन्द्रिय हुआ, तथा कर्मेन्द्रियों का उपकारक होकर सम्पूर्ण क्रियाओं की निष्पत्ति का निमित्त होने के हेतुवश कर्मेन्द्रिय भी हुआ। इस तरह एक ही मन ज्ञानकर्मो-भयेन्द्रिय स्वरूप होता है। इसीलिए इसे उभयात्मक बतलाया गया है। यह तथ्य सुस्पष्ट है; कि—विना मन के सहयोग के कोई भी इन्द्रिय वह चाहे ज्ञानेन्द्रिय हो या कर्मेन्द्रिय अपना कार्य सम्पन्न नहीं कर सकती है। इसीलिए श्रुति में लिखा है; कि—"मेरा मन कहीं अन्यत्र था अतः मैंने सुना नहीं',

इत्यादि श्रुति के द्वारा ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों की समभाव से उभयत्र सहकारिता सिद्ध हो जाती है। इसीलिए मनको उभयेन्द्रिय कहा जाता हैं।

कर्णेन्द्रिय की देवता दिशा है। त्वगिन्द्रिय का देव वायु है। चक्षुरिन्द्रिय का देव सूर्यनारायण है। रसनेन्द्रिय का देव वरुण है घ्राणेन्द्रिय के देव दोनों अश्विनीकुमार हैं। वागिन्द्रिय का देव अग्नि है। हस्तेन्द्रिय का देव इन्द्र है। पादेन्द्रिय का देव विष्णु है। पायिवन्द्रिय का देव मित्र है। और मन का चन्द्रमा है। इस प्रकार से इन ग्यारहों इन्द्रियों के ये ग्यारहों देवता होते हैं। इस प्रकार से अहंकार का निरूपण किया गया है।

इन्द्रियादीनि निरूप्यन्ते—

अहंकारादादौ मन उत्पद्यते।
"शब्दरागाच्छोत्रमस्य जायते भावितात्मनः।
रूपरागात्तथा चक्षुर्घ्राणं गन्धजिघृक्षया॥[1]

इत्यादिना मोक्षधर्मादाविन्द्रियादीनां मनोवृत्तिरागादिकार्यत्वश्रवणात्। ततश्चाहङ्कारात् संकल्पपूर्वकं दशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणि चोत्पद्यन्ते। इन्द्रियतन्मात्रयोश्च कार्यकारणभावस्याभावात् क्रमनियमो नास्ति। तत्रेन्द्रियेषु नास्त्यवान्तरकार्यकारणभावः, प्रमाणाभावात्; तन्मात्रेषु त्वस्ति; स यथा— शब्दतन्मात्राद् वक्ष्यमाणक्रमेण स्पर्शतन्मात्रं शब्दस्पर्शोभयगुणकम्, एवं क्रमेणैकैकगुणवृद्ध्या परतन्मात्रत्रयं पूर्वपूर्वतन्मात्रेभ्य उत्पद्यते पातञ्जलभाष्ये[2] तन्मात्रेषु क्रमेणैकैकगुणवृद्धिवचनात्। ततश्च पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतानि जायन्ते। तत्राहंकारात् पञ्चतन्मात्राणां तद्द्वारा भूतानाञ्चोत्पत्तौ क्रमः कूर्मविष्ण्वादिपुराणेषूक्तः; यथा कूर्मे—

"भूतादिस्तु विकुर्वाणः शब्दमात्रं ससर्ज ह।
आकाशं शुषिरं तस्मादुत्पन्नं शब्दलक्षणम्॥

आकाशस्तु विकुर्वाणः स्पर्शमात्रं ससर्ज ह।
वायुरुत्पद्यते तस्मात् तस्य स्पर्शो गुणो मतः॥[3]

इत्यादिक्रमेणेति।

---

१. महाभारते शान्तिपर्वणि २१३ अध्याये १६ श्लोकः।

२. व्यासभाष्ये द्वितीये पादे एकोनविंशतितमे सूत्रे।

३, कूर्मपुराणे १/४/२४—२५ श्लोकौ।

इन्द्रियादि का निरूपण किया जाता है। अहंकार से सर्वप्रथम मन पैदा होता है। 'शब्द में राग हुआ, तब शब्द शुश्रूषा उत्पन्न हुई और उसी की पूर्त्यर्थं श्रोत्रेन्द्रिय उत्पन्न हुई, उसी तरह से जब भावितात्मा की रूप देखने में अनुरक्ति होती है तो फिर उसकी पूर्त्यर्थं चक्षुरिन्द्रिय उत्पन्न हुई तथा गन्ध ग्रहण करने की ईच्छा होने से फिर घ्राणेन्द्रिय उत्पन्न हुई। इत्यादि श्लोकों द्वारा महाभारत के मोक्षधर्म पर्व इत्यादि ग्रन्थों में इन्द्रियादि को मनोवृत्ति राग आदि की कार्यता बतलायी जाने के हेतुवश मनोवृत्ति के रागादि से ही इन्द्रियादि की उत्पति हुई ऐसा मानना चाहिए। उसी वजह से अहंकार से संकल्पकेन्द्रिय मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पञ्चतन्मात्र उत्पन्न होते हैं। इन्द्रियों तथा तन्मात्रों में परस्पर कार्यकारण भाव का अभाव होने के हेतुवश उत्पत्ति के क्रम का कोई नियम नहीं है। प्रमाण नहीं होने के हेतुवश वहाँ इन्द्रियों में परस्पर अवान्तर कार्यकारण भाव नहीं माना जाता है। परन्तु पञ्चतन्मात्र वर्ग में तो क्रम का नियम है—वह है जैसे—शब्दतन्मात्र से स्पर्शतन्मात्र उत्पन्न होता है, वह आगे बतलाये जाने वाले क्रम से शब्द एवं स्पर्श दोनों गुणों से युक्त होता है। इसी प्रकार पहले-पहले वाले तन्मात्र से अगले-अगले तन्मात्र की उत्पत्ति होती है। और क्रमशः एक-एक गुण की वृद्धि होती है। अर्थात् स्पर्शतन्मात्र से शब्द स्पर्श एवं रूप इन तीनों गुणों से युक्त रूपतन्मात्र की उत्पत्ति होती है। और रूपतन्मात्र से शब्द, स्पर्श, रूप, रस इन चारों गुणों से युक्त रसतन्मात्र की उत्पत्ति होती है; तथा रसतन्मात्र से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, एवं गन्ध इन पाँचों गुणों से युक्त गन्धतन्मात्र की उत्पति होती है। पातंञ्जलयोगदर्शन के व्यास भाष्य में भी कहा है कि तन्मात्रों में क्रमशः एक-एक गुण की वृद्धि होती है। अतः इस बात की पुष्टि हो जाती है कि पांचों तन्मात्र पूर्व-पूर्व पर-पर के प्रति कारण होता है; तथा उत्तरोत्तर एक-एक गुण की वृद्धि होती रहती है। और तदनन्तर पाँचों तन्मात्रों से क्रमशः शब्द तन्मात्र से आकाश, स्पर्श तन्मात्र से वायु, रूपतन्मात्र से अग्नि, रसतन्मात्र से जल और गन्धतन्मात्र से पृथिवी इस प्रकार पाँचों महाभूतों की उत्पति होती है। अहंकार से पाँच तन्मात्रों की और पांचों तन्मात्रों से पाँचों महाभूत उत्पन्न होते हैं। इनकी उत्पत्ति में, जो क्रम है। वह कूर्म पुराण विष्णु-पुराण, इत्यादि में बतलाया गया है। जैसे कूर्मपुराण में लिखा है, कि—भूतादि (तामस) अहंकार विशेष प्रकार की सृष्टि प्रक्रिया करते हुए अर्थात् स्वरूपान्तरत्वेन परिणत होते हुए, शब्दतन्मात्र की सृष्टि की। उसी शब्दतन्मात्र से शब्द गुण विशिष्ट अवकाश प्रदान करने वाला आकाश उत्पन्न हुआ। इसी तरह आकाश ने तो विशेष प्रकार की सृष्टि करते हुए सुनिश्चित रूप से स्पर्श-

तन्मात्र की सृष्टि की। उसी स्पर्शतन्मात्र से स्पर्श गुण — सम्पन्न वायु उत्पन्न होता है। उसी वजह से वायु का स्पर्श गुण माना गया है। इत्यादि क्रम से भूतादि अहंकार से तन्मात्र की तथा क्रमशः आकाशादि अन्य तन्मात्रों एवं भूतों की उत्पत्ति होती है। इस विषय को स्पष्ट किया गया है।

नन्वेवमाकाशादिभूतचतुष्टयस्यापि तत्त्वान्तरारम्भकत्वेन प्रकृतित्वापत्त्या केवलविकृतित्वसिद्धान्तक्षतिरिति चेन्न; आकाशादीनां स्पर्शादितन्मात्रेष्वहंकारोपष्टम्भमात्रेण कारणत्वस्य पुराणेषूक्तत्वादिति।[1] तदेवं त्रयोविंशतितत्त्वानामुत्पत्तिरुक्ता।

यदि कोई कहे कि इस प्रकार से तो आकाश, वायु, अग्नि और जल इन महाभूतों को भी दूसरे तत्त्वों के प्रारम्भ करने वाले होने के हेतुवश इन्हें भी प्रकृतित्व की प्राप्ति होने से जो इन्हें केवल विकृति मानने वाला सिद्धान्त है, वह खण्डित हो जायेगा। क्योंकि आकाश वायु का, वायु अग्नि का, अग्नि जल का एवं जल पृथिवी का कारण होता है। अतः "तत्त्वान्तरारम्भकत्वम्प्रकृतित्वम्" इस सिद्धान्त से दूसरे तत्त्वों की आरम्भकता ही प्रकृतिता की द्योतक है। इसलिए आकाशादि-चारों महाभूतों को प्रकृति माना जाना चाहिए।

इसके प्रत्युत्तर में सिद्धान्त पक्ष से कहना है; कि-ऐसी आशंका करना समुचित नहीं है। क्योंकि पुराणादिकों में, आकाशादि महाभूतों की स्पर्शतन्मात्र प्रभृति में अहंकार की उपष्टम्भकता मात्र से ही कारणता बतलायी गयी है। अतः मुख्य कारणता तो पञ्चतन्मात्राओं की अहंकार में तथा पञ्च महाभूतों की पञ्चमात्रों में कारणता भी सुनिश्चित ही है। इसलिए प्रकृतित्व मूलरूप से मूलप्रकृति मात्र में होता है तथा महत् तत्त्व अहंकार तत्त्व और शब्दतन्मात्र स्पर्शतन्मात्र रूपतन्मात्र रसतन्मात्र एवं गन्धतन्मात्र इन पाँचों तन्मात्रों अर्थात् इन सात तत्त्वों में प्रकृति-विकृतित्व होता है। इसीलिए कहा गया है; कि 'अष्टौ प्रकृतयः," आठ ही प्रकृतियाँ होती हैं। इस तरह तत्त्वान्तरारम्भकता आकाशादि में नहीं होने से ये चारों भूत प्रकृतित्व को प्राप्त नहीं कर सकते, और इसीलिए इनका केवल विकृतित्व का सिद्धान्त सुस्थिर ही है। तो इस प्रकार तेइस तत्त्वों की उत्पत्ति बतलायी गयी है।

तत्र पञ्चभूतानि वर्जयित्वा अहंकारञ्च बुद्धौ प्रवेश्य सप्तदशकं लिङ्गशरीरसंज्ञं भवति, वह्नेरिन्धनवदात्मनोऽभिव्यक्ति-स्थानत्वात्। तच्च सर्व-

---

१. महाभारते शान्ति पर्वणि २१२ अ० १९ श्लोके।

पुरुषाणां सर्गादावुत्पद्य प्राकृतप्रलयपर्य्यन्तं तिष्ठति, तेनैव चेहलोकपरलोकयोः संसरणं जीवानां भवति। प्राणश्च बुद्धेरेव वृत्तिभेदः[1] इत्यतो न लिङ्गशरीरात् पृथङ् निर्दिश्यते। तस्य लिङ्गशरीरस्य सूक्ष्माणि पञ्च भूतान्याश्रयश्चित्रादिवत्, आश्रयं विना परमसूक्ष्मस्य लोकान्तरगमनासम्भवात्। इदञ्च लिङ्गशरीरमादौ स्वयम्भुव उपाधिभूतमेकमेव जायते, तस्यैव विराडाख्यवक्ष्यमाणस्थूल शरीरवत्। ततश्च व्यष्टिजीवानामुपाधिभूतानि व्यष्टिलिङ्गशरीराणि तदंशभूतानि ततो विभज्यन्ते, पितुर्लिङ्गशरीरात् पुत्रलिङ्गशरीरवत्। तदुक्तं सूत्रकारेण—"व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात्"[2]। मनुनाऽप्युक्तम्—

"तेषां त्ववयवान् सूक्ष्मान् षण्णामप्यमितौजसाम्। सन्निवेश्याऽऽत्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे।" इति।[3]

षण्णामिति षडिन्द्रियं समस्तलिङ्गशरीरोपलक्षकम्; तथा च स्वयम्भूः स्वलिङ्गशरीरावयवान् सूक्ष्मान् अल्पान् आत्ममात्रासु स्वांशचेतनेषु संयोज्य सर्वप्राणिनः ससर्जेत्यर्थ। लिङ्गशरीरं निरूपितम्।

उन तेइस तत्त्वों में से पृथिवी, जल, तेज, वायु एवं आकाश इन पांचों महाभूतों को छोड़कर तथा अहंकार का बुद्धि में अन्तर्भाव कर लेने पर जो सत्रह तत्त्व बचते हैं; वे सभी मिलकर लिंगशरीर कहलाते हैं। जैसे आग की समभिव्यन्ति का स्थान इन्धन (लकड़ी इत्यादि जलने वाली वस्तुएँ) होता है। उसी प्रकार आत्मा की अभिव्यक्ति का स्थान यह लिंगशरीर होता है। लिंगशरीर सभी पुरुषों के सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न होकर प्राकृत प्रलय तक ठहरता है। उसी लिंग शरीर से ही सभी जीवात्मों का इस लोक में तथा पर लोक में आना जाना होता है, प्राण को लिंग शरीर से अलग इसीलिए नहीं बतलाया जाता है;। क्यों कि प्राण भी वृद्धि की वृत्तियों में से एक है। अतः वृद्धि तत्व के अन्तर्गत ही प्राण का अन्तर्भाव हो जाता है। पाँचों सूक्ष्मभूत अर्थात् शदब्तन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र ये पाँचों तन्मात्र लिंग शरीर के आश्रय स्थान (सहारे) होते हैं, जैसे चित्र का सहारा दीवार आदि, जिन वस्तुओं पर चित्र वनाया जाता है। वे ही उस चित्र का सहारा होती हैं। उसी प्रकार से तन्मात्र ही लिग शरीर का भी सहारा होते

---

१. लक्ष्मीतन्त्रेऽहिर्बुध्न्य संहितायाञ्च क्रमशः ५/३१-३२ एवं ७/८-९ श्लोकेषु।
२. सांख्यसूत्रम् ३/१०
३. मनुस्मृतिः १/१६

हैं। बिना आश्रय के अत्यन्त सूक्ष्म लिंगशरीरोपेत जीवात्मा का एक लोक से दूसरे लोक में जाना असम्भव होने के हेतुवश पञ्चतन्मात्र को लिंगशरीर का आश्रय माना जाता है। और यह लिंगशरीर भी सबसे पहले तो अपने आप उत्पन्न होने वाले एवं स्वयम्भू कहलाने वाले आत्मा की उपाधि के स्वरूप में एक ही उत्पन्न होता है; तथा उसके ही आगे बतलाये जाने वाले विराट् नाम से पुकारे जाने वाले स्थूल-शरीर की तरह होता है। और तदनन्तर उसी स्वयम्भू के उपाधिभूत लिंगशरीर से ही इकाई के रूप में अलग-अलग रहने वाले जीवात्माओं के उपाधि-भूत व्यष्टिलिंगशरीर उसके अंश के रूप में विभक्त होते हैं। जैसे पिता के लिंगशरीर से उसी के अंशभूत पुत्र का लिंगशरीर विभक्त होता है; उसी प्रकार से विराट् लिंगशरीर से ही व्यष्टिजीवात्मा के लिंगशरीर से ही व्यष्टिजीवात्मा के लिंगशरीर विभक्त होते हैं। सूत्रकार महर्षि कपिल ने कहा है; कि—"प्रत्येक लिंगशरीरोपाधिभूत जीवात्मा के कर्मों में पृथक-पृथक् वैशिष्ट्य होने के हेतुवश प्रत्येक पुरुष का लिंगशरीर पृथक्-पृथक् होता है।" इसी तथ्य को भगवान् मनु ने भी मनुस्मृति के पहले अध्याय के सोलहवें श्लोक में स्पष्ट किया है; कि—मन एवं पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ इन छहों परम तेजोमय तत्त्वों के सूक्ष्म अवयवों का सर्वोत्कृष्ट आत्मा की मात्राओं में अर्थात् परमात्मा के अंशभूत जीवात्माओं (चेतन पुरुषों) में सम्यक् प्रकार से निविष्ट करके (डालकर) प्राणिमात्र को बनाया।

यहाँ इस श्लोक के षण्णां पद द्वारा एक तो मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ये छहों इन्द्रियाँ परिलक्षित की गयी हैं, जो कि सत्रह तत्त्वों वाले लिंगशरीर को उपलक्षित करने वाली हैं। अर्थात् इन छहों इन्द्रियों के माने यहाँ पूरा लिंग-शरीर समझना चाहिए। और वैसे ही स्वयम्भू ने अपने लिंगशरीर के छोटे-छोटे सूक्ष्म अंगों को अपने ही अंशभूत चेतन तत्त्व जीवात्माओं में संयुक्त करके सभी प्राणियों की सृष्टि की है। यही इस उपर्युक्त प्रतिपादन का तात्पर्य है। इस तरह से लिंगशरीर का निरूपण किया गया।

स्थूलशरीरोत्पत्तिरुच्यते—

दशगुणितमहत्तत्त्वमध्येऽहंकारः, अहंकारस्यापि दशगुणितस्य मध्ये व्योम, व्योम्नोऽपि दशगुणितस्य मध्ये वायुः, वायोरपि दशगुणितस्य मध्ये तेजः तेजसोऽपि दशगुणितस्य मध्ये जलम्, जलस्यापि दशगुणितस्य मध्ये पृथिवी समुत्पद्यते, तस्यापि दशगुणितस्याण्डरूपस्य पृथिव्यावरणस्य मध्ये चतुर्दशभुवनात्मकं; स्वयम्भुवः स्थूलशरीरं तत्संकल्पादेवोत्पद्यते, तेनैवशरीरेण स्वयम्भूर्नारायण इत्युच्यते। तदुक्तंमनुना स्वयम्भुवं प्रकृत्य—

"सोऽभिध्यायशरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥८॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिन् जज्ञे स्वयंब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥९॥
स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते ।
आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्त्तत ॥[1]
आपोनारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥१०॥ इत्यादिनेति ।

स्थूल शरीर की उत्पति वतलायी जाती है कि—

अहंकार से दशगुणा बड़े महत्तत्व में अहंकार उत्पन्न होता है. आकाश से दशगुणा वड़े अहंकार में आकाश पैदा होता है। वायु से दशगुणा वड़ें आकाश में वायु उत्पन्न होता है। तेज से दशगुणा बड़े वायु के बीच में तेज पैदा होता है। दशगुणा जल से वड़े तेज के वीच भी जल पैदा होता है। पृथ्वी से दश-गुणा बढ़े जल के बीच में पृथ्वी उत्पन्न होती है, वही पृथ्वी स्थूलशरीर का बीज है। वही पृथ्वी रूपी बीज अण्डे के रूप में परिणत (रूपान्तरित) हो जाता है। स्वयम्भू के संकल्प से ही भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनर्लोक, तपोलोक, सत्यलोक इस भूर्लोक से ऊपर वाले छह लोक सातवीं इस पृथिवी और तल अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल तथा पाताल इन सातों अधोलोक स्वरूपी चतुर्दश—भुवनात्मक स्वयम्भू का स्थूलशरीर उससे दशगुणा बड़े अण्डरूपी पृथिवी के आवरण के बीच में उत्पन्न होता है। उसी शरीर से वह स्वयम्भू, नाराथण इस नाम से पुकारा जाता है। स्वयन्भू को लक्ष्य करके मनु-स्मृति के प्रथम अध्याय के आठवें नवें तथा दशवें श्लोकों में लिखा हैं कि—

"उस स्वयम्भू नारायण ने चिन्तन करके अपने शरीर से नैकविध प्रजा को उत्पन्न करने की ईच्छा से सर्वप्रथम जल को उत्पन्न किया। उसी जल में उसने मूल पृथिवी रूपी बीज को छोड़ दिया। वही पृथिवी रूपी अण्ड हजारों किरणों वाले सूर्य के समान प्रभामण्डल वाला स्वर्णिम हो गया; उसी अण्ड में से सम्पूर्ण लोकमण्डल के पितामह माने जाने वाले ब्रह्मा उत्पन्न हुए। शरीर धारण करने वाले प्रथम जीवात्मा निश्चित रूप से ब्रह्मा ही हुए। अतः

१. श्लोकोऽयम्भनुस्मृतौ नोपलम्यते सौरपुराणे चोपलभ्यते।

२. मनुस्मृतौ प्रथमाध्यायेऽष्टमनवमदशमश्लोकाः।

सुनिश्चित रूप से वे ही पुरुष कहलाते हैं । ब्रह्मा ही सर्वप्रथम ऐसे पुरुष हैं जो प्राणिमात्र के प्रथम निर्माता के रूप से समुत्पन्न हुए । जल को ही नारा कहते हैं; निश्चित रूप से जल ही मनुष्यों को उत्पन्न करने वाला होता है । वही जल उस स्वयम्भू का रहने का प्रथम घर वना, उसी से स्वयम्भू का शास्त्रकारों ने नारायण इस नाम से स्मरण किया है । इत्यादि श्लोकों द्वारा स्वयम्भू नारायण से होने वाली सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन समुपलब्ध होता है ।

तत एव चादिपुरुषाद् व्यष्टिपुरुषाणां विभागादन्ते च तत्रैव लयात् स एव चैक आत्मेति श्रुतिस्मृत्यो र्व्यवह्रियते । अतो न व्यवहारपरतया नारायण एव सर्वभूतानामात्मेति श्रुतिस्मृतिविरोध इति । ततश्च स नारायणो विराट्शरीरी स्वनाभिकमलकर्णिकास्थानीयस्य सुमेरोरुपरि चतुर्मुखाख्यं स्वयम्भुवं सृष्ट्वा तद्द्वारा अन्यानपि व्यष्टिशरीरिण: स्थावरान्तान् ससर्ज । तथा च स्मर्यते—

"तच्छरीरसमुत्पन्नैः कार्यैस्तैः कारणैः सह ।
क्षेत्रज्ञाः समजायन्त गात्रेभ्यस्तस्य धीमतः ॥[१] इति

और उसी आदि पुरुष से व्यष्टिपुरुषों का विभाग होने के हेतुवश तथा आखिर में भी वापिस व्यष्टि पुरुषों का उसी आदि पुरुष में लय होने की वजह से भी वही एक मात्र आत्मा है । ऐसा वेदों में तथा स्मृतियों में प्रयोग किया जाता है । इसलिए व्यवहारपरता से "नारायण ही सभी प्राणियों का आत्मा है ।" इस कथन में वेदों एवं स्मृतियों का कोई विरोध नहीं है । और उसी वजह से उस विराट् शरीर वाले नारायण ने अपने नाभिकमल की कर्णिका के स्थान में सुशोभित होने वाले सुमेरु पर्वत के ऊपर चार मुख वाले स्वयम्भू ब्रह्मा की सृष्टि करके उसी के माध्यम से दूसरे सभी व्यष्टिशरीर धारण करने वाले प्राणियों एवं स्थावर पर्य्यन्त स्थित सृष्टि की सम्पूर्ण वस्तुओं की सृष्टि की । वैसे ही पद्मपुराण में लिखा है कि—

"उस बुद्धिमान् आदि पुरुष के शरीर से ही सम्पूर्ण सृष्टि के परस्पर कार्यकारण भाव रखने वाले सम्पूर्ण पदार्थ उत्पन्न हुए, तथा उन सम्पूर्ण पदार्थों के साथ ही सभी क्षेत्रज्ञ भी उत्पन्न हो गये । इस तरह इस सम्पूर्ण सृष्टि का

---

१. पद्मपुराणे ५/३/१५६ श्लोकः ।

प्रादुर्भाव साक्षात् मूलप्रकृति से और परम्परया नारायण आदि पुरुष से ब्रह्मादि के क्रम से होता है। यह बात सिद्ध हो जाती है। और इस प्रकार से सांख्य की मान्यता एवं श्रुतिसम्मत मान्यता में कोई पार्थक्य नहीं रह जाता है।

यत्तु शेषशायिनो नारायणस्य नाभिकमलश्रोत्रचक्षुरादिभ्यश्चतुर्मुखस्याऽऽविर्भावः श्रूयते, तद्दैनन्दिनसर्गेणैव कल्पभेदेन मन्तव्यम्[1]। दैनन्दिनप्रलयेष्वेव हि नारायणशरीरे प्रविश्यैकीभूय सुप्तानां चतुर्मुखादिक्रमेणविर्भावः शेषशायिनः सकाशाद् घटते, न स्वादिसर्गेषु; दैनन्दिनप्रलय एव लीलाविग्रहेण शयनादिति।

तदेवं सङ्क्षेपतश्चतुर्विंशतितत्त्वानि तेषां सृष्टिरूपं प्रयोजनञ्चोक्तम्। तत्र यद् यस्माज्जायते तस्य तदापूरणेनैव स्थितिः। ततस्तस्य संहारोऽपि तत्रैव भवति—

"यद् यस्मात् जायते तत्त्वं तत्तत्रप्रविलीयते।
लीयन्ते प्रतिलोमानि जायन्ते चोत्तरोत्तरम्॥[2]॥

इति भारतादिभ्य इति।

परन्तु जो शेषशायी भगवान् नारायण के नाभिकमल से, कान से और आंख आदि से चार मुखवाले श्री ब्रह्माजी की उत्पत्ति शास्त्रों में सुनी जाती है। वे सभी स्थान दैनन्दिन सृष्टियों में कल्पभेद से ब्रह्माजी की उत्पति के स्थान हैं ही ऐसा मानना चाहिए। क्योंकि कल्पभेद से सृष्टि में अवान्तर भेद पूर्वाचार्यों ने भी माने हैं। जैसे नीलकण्ठाचार्यजी देवी-भागवत के नवमस्कन्ध के टीका के प्रारम्भ में ही लिखते हैं—कि कल्पभेद से दोनों ही पक्ष हो सकते हैं। जैसे पुराणों में कहीं शिव से ब्रह्मा एवं विष्णु की उत्पत्ति, और कहीं तो गणेश से इन तीनों की उत्पत्ति और कहीं इन्हीं तीनों की सूर्य से उत्पत्ति बतलायी है, तो कहीं ब्रह्मा से शिव और विष्णु की उत्पत्ति, बतलायी गयी है। ये सभी विभिन्न उत्पत्तियाँ तो यहां केवल कल्पभेद से ही बतलायी गयी हैं।

---

१. देवीभागवतस्य नवमस्कन्धटीकारम्भे विषयोऽयंस्पष्टीकृतोऽस्ति।

२. श्लोकोऽयम्महाभारते शान्तिपर्वणि ३०६ अध्यायें ३१ श्लोकत्वेनेत्थं पठ्यते यत्—यस्माद् यदभिजायेत तत्तत्रैव प्रलीयते। लीयन्ते प्रतिलोमानि सृज्यन्ते चोत्तरोत्तरम्।

दैनन्दिन प्रलयों में ही सुनिश्चित रूप से नारायण के शरीर में प्रविष्ट होकर और परस्पर भिन्न-भिन्न होने पर भी एक होकर सोये हुओं का वापिस चतुर्मुख ब्रह्मा आदि के क्रम से शेषशायी नारायण से प्रकट होना युक्ति-युक्त प्रतीत होता है। परन्तु प्रारम्भिक सृष्टियों में ऐसा सम्भव नहीं। क्योंकि दैनन्दिन प्रलयों में ही लीला विग्रह के द्वारा शयन किये जाने के हेतुवश ऐसा सम्भव है। अर्थात् प्रत्येक विष्णु के एक दिन के बाद एक रात्रि आती है। उस समय सम्पूर्ण सृष्टि विष्णु में लीन हो जाती है। तथा बाद में उसी से पुनः ब्रह्मादि के क्रम से प्रकट होती है। इस प्रकार विष्णु के एक दिन की पूर्ति होने पर जो प्रलय होता है, वही दैनन्दिन प्रलय कहलाता है। तो इस प्रकार से सङ्क्षेप से चौबीस तत्व, उनकी सृष्टि का स्वरूप और प्रयोजन बतलाया गया। उनमें से जो तत्व जिस तत्व से उत्पन्न होता है, वह उसी तत्व की आपूर्ति के द्वारा स्थित रहता है; तदनन्तर उसका लय भी उसी में होता है। महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है कि—

"जो तत्व जिस तत्व से उत्पन्न होता है; वह तत्व उसी अपने उद्गम के मूलस्थान भूत तत्व में ही लीन हो जाता है। इस तरह अनुलोमक्रम से उत्तरोत्तर उत्पन्न होते हैं, तथा प्रतिलोम क्रम से अपने कारण में वापिस लीन होते हैं।" इस प्रकार के तथ्यों का प्रतिपादन करने वाले महाभारतादि के वचनों से उपयुक्त तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है।

एते च सृष्टिस्थितिसंहाररूपाः स्थूला एव परिणामाश्चतुर्विंशतितत्त्वानां कूटस्थपुरुषविवेकाय प्रदर्शिताः सूक्ष्मा अप्यन्ये प्रतिक्षणपरिणामा एतेषां स्मर्यन्ते। तथा च "नित्यदा ह्यङ्ग ! भूतानि भवन्ति न भवन्ति च। कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात् तन्न दृश्यते ॥[1] इति

अतश्च सर्वं जडवस्तु परमार्थतः सर्वदैवासदुच्यते; ततश्च तस्मात् विरज्याऽऽत्मैव परमार्थसत्यो दुःखभीरुभिर्द्रष्टव्यः : तदुक्तमनुगीतायाम्—

"अव्यक्तबीजप्रभवो बुद्धिस्कन्धमयोमहान् ।
महाहंकारविटप इन्द्रियाङ्कुरकोटरः ॥२०॥
महाभूतप्रशाखश्च विशेषप्रतिशाखवान् ।
सदापर्णः सदापुष्पः शुभाशुभफलोदयः ॥२१॥
आजीवः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः ।

१. श्रीमद्भागवतमहापुराणस्यैकादशस्कन्धे द्वाविंशेऽध्याये द्विचत्वारिंशत्तमे श्लोके ।

एतज्ज्ञात्वा च तत्त्वेन ज्ञानेन परमासिना ॥२२॥
छित्वा चाक्षरतां प्राप्य जहाति मृत्युजन्मनी[1] ॥२३॥

और ये सांख्यशास्त्र प्रतिपादित इन चौबीस तत्वों के सृष्टि, स्थिति और संहार रूपी परिणाम, कूटस्थ पुरुष से विवेक कराने के लिए ही स्थूल रूप से बतलाये गये हैं। महाभारतादि शास्त्रों में तो इन तत्वों के प्रतिक्षण में होने वाले सूक्ष्म परिणाम भी बतलाये गये हैं। और वैसे ही लिखा है कि—'हे अग! जिस काल के वेग को सामान्यतः देखा नहीं जा सकता है। उसी काल के द्वारा प्रत्यह प्रतिक्षण सूक्ष्म परिणाम होते रहते हैं। जिनसे प्राणी होते भी हैं, और नहीं भी होते। अर्थात् प्राणियों की तथा शरीरों की उत्पत्तियाँ और उनके विनाश होते ही रहते हैं। परन्तु अत्यन्त सूक्ष्म होने के हेतुवश वे दिखाई नहीं देते। भाव यह है कि उनका अनुभव नहीं होता है। इस प्रकार से भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र जी द्वारा श्री उद्धव को समझाया गया है। और इसीलिए सम्पूर्ण जडवस्तु पारमार्थिक रूप से हमेशाँ ही असत् कहलाती है। और उसी वजह से जो आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक दुःखों से डरने वाले हैं, उन्हें उन सम्पूर्ण असज्जडवस्तुओं से विरक्त होकर पारमार्थिक रूप से सत्य आत्मतत्व का साक्षात्कार करना चाहिए। वही बात महाभारत अश्वमेध पर्व के पैंतीसवें अध्याय में वर्णित अनुगीता के बीसवें श्लोक से तेइसवें श्लोक पर्य्यन्त स्पष्ट की गयी है कि—"यह देह एक वृक्ष के समान है। अज्ञान इसका मूल अंकुर (जड़) है, बुद्धि इसका स्कन्ध अर्थात् तना है; अहंकार शाखा है, इन्द्रियाँ खोह हैं, पञ्च महाभूत उसके विशेष अवयव हैं, और उन भूतों के विशेष भेद उसकी टहनियाँ है। इसमें सदा ही संकल्परूपी पत्ते उगते और कर्मरूपी फूल खिलते रहते हैं। शुभाशुभ कर्मों से प्राप्त होने वाले सुख दुःख आदि ही उसमें सदा लगे रहने वाले फल हैं। इस प्रकार ब्रह्मरूपी बीज से प्रकट होकर प्रवाह रूप से सदा मौजूद रहने वाला देहरूपी वृक्ष समस्त प्राणियों के जीवन का आधार बनता है। जो इसके तत्व को भली-भाँति जानकर ज्ञानरूपी उत्तम तलवार से इसे काट डालता है, वह अमरत्व को प्राप्त होकर जन्म तथा मृत्यु के बन्धन से सर्वथा छुटकारा प्राप्त कर लेता है, अर्थात् वह प्राणी सर्वथा मुक्त हो जाता है।

इस तरह श्री विज्ञानभिक्षु द्वारा विरचित सांख्यसार नामक ग्रन्थ में विवेक के प्रतियोगी प्रकृति आदि तत्वों का स्वरूप निरूपण करने वाला यह तृतीय परिच्छेद परिपूर्ण हुआ।

---

१. अनुगीतायाम् (अश्वमेध पर्वणि) अ. ३५/२०-२३ श्लोकाः।

उत्तरभागः

प्रथमः परिच्छेदः

अथ शिष्यैः सुखेनैव गृहीतुं पद्यमालया ।
विवेकस्यानुयोग्यात्मा पुरुषाख्यो निरूप्यते ॥१॥

अव शिष्य लोग आसानी से इस ज्ञान को ग्रहण सकें ; एतदर्थ विवेक के अनुयोगी पुरुष नाम से पुकारे जाने वाले आत्मतत्त्व का निरूपण किया जाता है ॥१॥

तत्र सामान्यतः सिद्धोजानेहऽमिति धीबलात् ।
द्रष्टाऽतो नित्यविभ्वादिधर्मै रेव स साध्यते ॥२॥

"मैं जानता हूं," इस प्रकार का बुद्धिबोध होता है; उसी के प्रभाव से सामान्यतः आत्मा सिद्ध हो जाती है । इसलिए वह आत्मतत्त्व द्रष्टा, नित्य, विभु आदि वैशिष्ट्यों के द्वारा सिद्ध किया जाता है ॥२॥

भोक्ता नित्यस्तदर्थत्वात् तत्कर्मोत्पादितत्त्वतः ।
महदादिविकाराणां सर्वेषामविशेषतः ॥३॥

नित्य समभाव से विद्यमान रहने वाला यह आत्म तत्त्व महदादि सभी प्रकृति के विकारों का समभाव से विषयाकाराकारितबुद्धि के प्रतिबिम्बन सामर्थ्य से भोगने वाला होता है । क्योंकि लिंगशरीरावच्छेदकत्वेन जो कर्म चेतन करता है । उन्हीं कर्मों से उत्पन्न होने की वजह से और संघातात्मक होने के हेतुवश सभी भोग केवल पुरुष के ही होते हैं, और भोगों के पुरुष के लिए होने की वजह से भी वह पुरुष भोगों का भोगने वाला होता है ॥३॥

अपि चादृष्टसंस्काराधारत्वाद् बीजरूपतः ।
धीरनादिरतोऽस्याश्च सिद्धा भोक्तुरनादिता ॥४॥

कृत कर्मों द्वारा निर्मित अदृष्ट (भाग्य) के संस्कारों की बीज रूप से आधारता के हेतुवश बुद्धि तत्त्व भी अनादि होता है । इस प्रकार से इस बुद्धि तत्त्व की तथा भोक्ता चेतन तत्त्व की अनादिता सिद्ध हो जाती है ॥४॥

स्वस्वामिभावानादित्वमृते भोक्त्रव्यवस्थितेः ।
स्वभुक्तवृत्तिसंस्कारवत्त्वं स्वत्वन्तु बुद्धिषु ॥५॥

वुद्धिगत स्वभाव और पुरुषगत स्वाभिभाव की अनादिता स्वीकृत किये विना पुरुष का भोक्तृत्व ही अव्यवस्थित हो जाता है। इसलिए स्वस्वामिभाव की अनादिता स्वीकृत की जाती है। बुद्धियों में अपने द्वारा भोगे गये भोगों की वृत्तियों के संस्कारों से युक्तता ही यहां स्वत्व माना जाता है ॥५॥

स्वाम्यं स्वनिष्ठसंस्कार-हेतुवृत्तेश्च भोक्तरि ।
अतश्च घटते स्वत्वनाशे कैवल्यमात्मनः ॥६॥

वुद्धितत्त्व में रहने वाले संस्कारों के हेतुवश होने वाली वृत्तिका ही भोक्ता में स्वामित्व माना जाता है। और इसीलिए स्वत्व के नष्ट हो जाने पर स्वामित्व स्वतः नष्ट हो जाता है, और तव इस आत्मा को कैवल्य प्राप्त हो जाना सर्वथा युक्तियुक्त हो जाता है ॥६॥

भोक्तुश्चानादिभावस्य विनाशे हेत्वसम्भवात् ।
न नाशो भोक्तुरस्तीति भोक्ता नित्यो हि सिध्यति ॥७॥

भोक्ता चेतन पुरुष के अनादि भाव के विनाश में किसी कारण के सम्भव न होने के हेतुवश भोक्ता का नाश नहीं होता है। इसीलिए सुनिश्चित रूप से यही सिद्ध होता है ; कि भोक्ता नित्य ही है ॥७॥

जन्यो ज्ञानप्रकाशोऽस्य नित्यत्वे तु न युज्यते ।
न ह्यप्रकाशे कुत्रापि प्रकाशोत्पत्तिरीक्ष्यते ॥८॥

इस भोक्ता की नित्यता स्पष्ट हो जाने पर इसमें किन्हीं माध्यमों से ज्ञानरूपी प्रकाश की जन्यता मान सकना युक्तियुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि इस संसार में कहीं पर भी ऐसा नहीं देखा जाता है ; कि—प्रकाशशून्यता में प्रकाश की उत्पत्ति होती हो ! अर्थात् जहाँ स्वाभाविकरूप से प्रकाश है, वहाँ से उसे कथञ्चिदपि उत्पन्न करने की आवश्यकता नहीं है, और जहाँ प्रकाश होता ही नहीं, वहाँ वह कथञ्चिदपि प्रकट नहीं किया जा सकता। क्योंकि आत्मा को नित्य, बुद्ध और मुक्त स्वभाव वाला माना जाता है। और जैसे वह्नि अपने स्वाभाविक औष्ण्य को नहीं छोड़ती तथा वह औष्ण्य उसमें जन्य नहीं है। उसी प्रकार से आत्मा में भी ज्ञानरूपी प्रकाश स्वाभाविक है। अतः वह नित्य बुद्ध रहता है। उसमें ज्ञानरूपी प्रकाश की स्वाभाविक स्थिति है, जन्यता नहीं ॥८॥

कार्य्ये प्रकाशाख्यगुणोऽवयवानां हि तद्गुणः ।
कारणं तेन नानित्यः प्रकाशो नित्यवस्तुनि ॥६॥

कार्यभूत प्रकाश नाम के गुण में अनित्यता होती है, क्योंकि निश्चित रूप से वह प्रकाश नामक गुण अवयवों का ही होता है। उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नित्य वस्तु आत्म-ज्योति में रहने वाला कारणभूत प्रकाश कभी भी अनिश्चित नहीं होता है। नित्य वस्तु आत्मतत्व में कारणभूत प्रकाश नित्य ही है ॥६॥

प्रकाशाश्रयसंयोगात् प्रकाशभ्रम इन्धने ।
आदर्शे चावृतेर्भङ्गात् प्रकाशोत्पत्तिविभ्रमः ॥१०॥

प्रकाश के आश्रय का संयोग होने के हेतुवश इन्धन में भी प्रकाश का भ्रम हो जाता है। जैसे शीशे से सूर्यादि के प्रकाश के आवर्त्तन की त्रुटि के प्रभाव से प्रकाश की उत्पत्ति के विषय में विशेष भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। अर्थात् वस्तुतः प्रकाश सूर्यादि में होने पर भी शीशे से परावर्तन के कारण शीशे म ही प्रकाश हैं, और शीशे से ही उत्पन्न होता है, ऐसा विशिष्ट भ्रम हो सकता है। वैसे इन्धन में प्रकाशाश्रय के संयोग से प्रकाशभ्रम भले ही हो जाय, किन्तु वस्तु स्थिति तो यही है कि शीशे में प्रकाश नहीं होता है ॥१०॥

तस्मान्नित्यात्मनो ज्ञानं नित्यं वाच्यं तथा सति ।
लाघवाज्ज्ञानमेवात्मा निराधारः प्रकल्प्यते ॥११॥

उससे सुस्पष्ट है कि नित्य आत्मा का ज्ञान भी नित्य ही होता है, ऐसा बतलाया जाता है। और वैसा होने पर लाघव की दृष्टि से ज्ञान का ही आत्मा बिना किसी आधार के कल्पित किया जाता है ॥११॥

अनाश्रिततया द्रव्यं संयोगादेश्च तन्मतम् ।
अतो जानेऽहमित्यादिबुद्धिरप्युपपद्यते ॥१२॥

और वह संयोग, विभाग; परत्व अपरत्व, गुरुत्व द्रवत्व इत्यादि के आश्रय के विना ही वह आत्मद्रव्य माना गया है। इसीलिए "मैं जानता हूं" इत्यादि प्रकार से जो बुद्धि वोध होता है, वह सर्वथा युक्ति युक्त ही प्रतीत होता है ॥१२॥

पिण्डेऽहंधीर्हि मूढानां ध्रुवैवानादिदोषतः ।
संयोगात् तत्र पिण्डे तु ज्ञानवत्त्वमतिः प्रभा ॥

शरीर में ही अहं की बुद्धि अनादि काल से आते हुए दोष के कारण ही

निश्चित रूप से मूर्ख लोगों की होती है, किन्तु संयोगवश शरीर में ज्ञानवता है। ऐसी बुद्धि का पिंड में उत्पन्न होना ही प्रमा है। "प्रकृष्टतया मीयते यया सा प्रमा" अर्थात् जिससे खूब अच्छी तरह प्रकृति पुरुषादि निखिल तत्वों का प्रमाण द्वारा सही-सही स्वरूपावबोध का ही प्रमा कहा जाता है ॥१३॥

सन्तु वाऽऽधेयताल्पत्वजन्मनाशादिवुद्धयः।
श्रोत्रस्य नभसोवार्थज्ञानस्य ज्ञानमात्रके ॥१४॥

श्रोत्रेन्द्रिय की अथवा शब्दघन आकाश के शब्दाववोध की ज्ञानमात्र में आधेयता, अल्पता, उत्पन्न होने एवं नष्ट होने इत्यादि वैशिष्ट्यों से सम्पन्नता की बुद्धियाँ हों, तो होती रहें। अर्थात् सामान्य विषयाववोधात्मक ज्ञान को किसी व्यक्ति विशेष को दिया जा सकता है। अतः उसमें आधेयता होती है। तथा कोई विशेषज्ञ होता और कोई अल्पज्ञ। ऐसी स्थिति में अल्पज्ञ में रहने वाले ज्ञान की अल्पता तथा विशेषज्ञ में होने वाली ज्ञान की विशेषता इस तथ्य को सुस्पष्ट करती है। इसी तरह से जो प्राणी जिन-जिन विषयों का ज्ञान क्रमशः करता रहता है; वैसे ही वैसे वह वह ज्ञान उस प्राणी, में उत्पन्न होता रहता है। और इसी प्रकार पुनः जिन-जिन विषयों के ज्ञान से वह प्राणी जैसे-जैसे दूर हटता जाता हैं। वैसे ही वैसे वह वह धीरे-धीरे नष्ट होता रहता है। इस तरह से उत्पत्ति होना एवं विनाश होना भी सामान्य विषयाववोधात्मक ज्ञान में भले ही हो, परन्तु आत्मा में ऐसा नहीं होता ॥१४॥

तस्माल्लाघवतर्केण बाधकाभावतस्तथा।
श्रुत्यादिभिश्च नित्यात्मा चिद्रूपेणैव सिध्यति ॥१५॥

अतः बाधक प्रमाण के अभाव की वजह से और तर्क में लाघव होने के हेतुवश तथा वेदादि प्रमाणों के द्वारा त्रिकालावाधित सत्य सदा सर्वथा सर्वकाल समभाव से विद्यमान रहने वाला आत्मतत्व कभी किसी विकृति युक्त नहीं होता। वह तो केवल चिद्रूप से ही (चैतन्य ज्योतिः स्वरूप से ही) सिद्ध होता है ॥१५॥

तज्ज्ञानं विभु नित्यवात् देहव्यापितयापि च।
मध्यत्वे नाशिता हि स्यादणुत्वे वाऽल्पदेशता ॥१६॥

उस चिद्रूप आत्मज्योति का अवबोध नित्य होने के हेतुवश व्यापक होने के कारण और सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने की वजह से भी हो जाता है। क्योंकि यदि जैनियों की तरह उसे मध्यम परिमाण वाला अर्थात आत्मा का

हाथी के शरीर में जाकर बड़ा होने वाला तथा चींटी के शरीर में जाकर कम होने वाला माना जाय तो सांसारिक अन्यान्य वृद्धिह्रास को प्राप्त होने वाले परिणामशील पदार्थों की ही तरह आत्मा को भी नष्ट होने वाला नश्वरत्व युक्त मानना पड़ेगा, सो सर्वथा अनुचित तथा श्रुतिस्मृति विरुद्ध है। अतः आत्मा में नश्वरता मानी नहीं जा सकती। इसी तरह यदि उस आत्मा में अणुत्व अत्यन्त सूक्ष्मस्वरूपत्व अर्थात् बहुत बारीक स्वरूप वाला है। ऐसा माना जाय तो उसमें थोड़े से स्थान में ही रहने का दोष आ जाता है, और वेद, पुराण और दर्शनादि शास्त्र सम्मत आत्मा की व्यापकता का सिद्धान्त खण्डित हो जाता है। अतः आत्मतत्वाववोध सर्वदेहव्यापिता विभुता और नित्यता के द्वारा ही होता है। ऐसा मानना सर्वथा युक्तियुक्त है ॥१६॥

विभुत्वेऽपि स्वधीवृत्तेरेव साक्षान्निरीक्षणात् ।
न सर्वत्र सदा सर्वभानं ज्ञाने प्रसज्यते ॥१७॥

आत्मा में व्यापकता व विभुत्व होने पर भी उसमें हमेशाँ हर स्थान पर हर वस्तु के ज्ञान की प्रसक्ति नहीं हो सकती। क्योंकि यह जीवात्मा केवल अपनी बुद्धि वृत्ति का ही साक्षान्निरीक्षण करता है। अर्थात् लिंगशरीरावच्छेद कत्वेन स्थित जीवात्मा चैतन्य पुरुष विषयाकाराकारितबुद्धि के अपने में उपस्थित प्रतिविम्ब को ग्रहण करता हुआ, भोक्तृत्व को प्राप्त होता है। अतः जो जो विषयाववोध बुद्धिवृत्ति में उपस्थित होते हैं, उन्हीं का बोध (प्रत्यक्ष) होता है। जो जो उसकी बुद्धिवृत्ति के नहीं बन पाते उनका अववोध नहीं होता इसीलिए वह प्रत्यगात्मा भी कहलाता है। इस तरह व्यापक होने पर भी हर समय हर वस्तु के ज्ञान की प्रसक्ति आत्मा में सम्भव नहीं ॥१७॥

अर्थभानं चितावर्थप्रतिबिम्बो मतो बुधैः ।
वृत्तेरेव चितौ साक्षात् प्रतिबिम्बनयोग्यता ॥१८॥

सभी विद्वानों द्वारा चिति चैतन्य ज्योति पुरुष में विषयों की शब्द स्पर्श-रूपरसगन्ध और उनके विभिन्न स्वरूपों की प्रतीति, केवल उनके प्रतिविम्ब के रूप में ही मानी गयी है। और उस आत्मज्योति में साक्षात् प्रतिबिम्बित हो सकने का सामर्थ्य केवल बुद्धिवृत्ति में ही होता है। अतः स्पष्ट है; कि—जैसे राजा के समक्ष हर व्यक्ति उपस्थित नहीं होता, अपितु सभी का प्रातिनिध्य करता हुआ सभी के विषयों को लेकर मन्त्री ही उपस्थित होकर सभी विषयों को प्रस्तुत करता है। वैसे ही सभी विषयों को इन्द्रियादि द्वारा ग्रहण करके बुद्धि ही अपनी विषयाकाराकारित वृत्ति से पुरुष में प्रतिविम्बित होती

है। जैसे किसी दर्पण में प्रतिबिम्बित होने वाले चेहरे को कोई दर्पण में ही मानने लगे। उसी प्रकार से बुद्धिवृत्ति के उस विषयाकाराकारित चैतन्य में स्थित प्रतिबिम्ब को ही उसमें मानकर सुख दुःखादि की स्थिति जो उसमें बतलायी जाती है वह सर्वथा अनुपयुक्त है, तथा श्रुतिस्मृति विरुद्ध भी। अतः अमान्य है। क्योंकि आत्मा तो नित्य शुद्ध बुद्ध और मुक्त स्वभाव वाला है ही। इसलिए इसमें बुद्धिवृत्ति द्वारा विषयों का प्रतिबिम्बन ही उसकी विषय प्रतीति मानना सर्वथा युक्तियुक्त है। ॥१८॥

अतोऽसङ्गेऽपिकूटस्थचैतन्ये विभुनि ध्रुवे।
वृत्तिद्वारकमेवान्यभानं फलबलान्मतम् ॥ १९ ॥

Central Sanskrit University
CENTRAL LIBRARY
Rajiv Gandhi Campus
2185

निरीह व निराकार होने के कारण सर्वथा असंग कूटस्थ, चैतन्य, व्यापक, अटल सुनिश्चितरूप से सर्वदा समभाव से विद्यमान रहने वाले आत्मतत्व में अन्य पदार्थों की प्रतीति बुद्धिवृत्ति के द्वारा ही तज्जन्यानुभवात्मक फल के अनुसार मानी जाती है। "असङ्गोऽयं पुरुष इति" इस सूत्र द्वारा तथा "असङ्गो ह्ययं पुरुष इति" इस बृहदारण्यकोपनिषद् के वचन द्वारा आत्मा को सर्वथा सङ्ग रहित प्रतिपादित किया गया है। क्योंकि सङ्ग स्वीकार करने पर विकार हेतु संयोगात्मक सङ्ग की प्रसक्ति हो सकती है; तथा सावयवता एवं सकामता इत्यादि कई दोष श्रुति स्मृति विरुद्ध प्रसक्त हो जाते हैं। अतःचेतन तत्व को सर्वथा असंग माना जाता है। कूटस्थता के माने भी आत्मा की सर्वथा सार्व-कालिकता निर्विकारिता स्पष्ट है। वह कभी भी किसी भी परिस्थिति में विकृत नहीं होता तथा रूपान्तरित भी नहीं होता, नष्ट होने की तो बात ही नहीं। असङ्ग, कूटस्थ, विभु, ध्रुव होने पर भी इस आत्म तत्व में अन्य भान क्यों माना जाता है, ऐसी आशंका हो तो उसके निराकरणार्थ ही फलबल से वृत्तियों के द्वारा अन्य वस्तुओं की प्रतीति इसमें स्वीकृत की जाती है ॥१९॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वृत्तिजन्यतयाऽखिलः।
वृत्त्यैकाधिकरण्येन कामादिर्धीषु नात्मसु ॥२०॥

काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, सुख, दुःख, शीत, उष्ण आदि सम्पूर्ण भाव वृत्तियों से ही उत्पन्न होते हैं, जहाँ-जहाँ वृत्तियाँ रहती है; वहाँ-वहाँ कामादि सभी होते हैं। और जहां-जहाँ वृत्तिनिरोध हो जाता है, वहाँ-

वहाँ कामादि का सर्वथा अभाव हो जाता है। योगी सर्वथा पूर्णकाम होता है; तथा द्वन्द्वातीत आत्माराम बन जाता है। इस तरह वृति के साथ कामादि की एकाधिकरणता होने से इनकी स्थिति बुद्धियों में ही होती है, आत्माओं में नहीं ॥२०॥

अतोऽन्तःस्थ-विकाराणां स्वस्वबुद्धिष्ववस्थितेः ।
कूटस्थ एव सर्वोऽपि चिदाकाशगणः समः ॥२१॥

इसलिये सम्पूर्ण लिंगशरीरावच्छेदकत्वेन स्थित जीवात्माओं की अपनी-अपनी बुद्धियों में अन्तःस्थ सम्पूर्ण विकारों की अवस्थिति होने के हेतुवश, सम्पूर्ण चिदाकाशमय पुरुष तत्व समभाव (समान रूप) से कूटस्थ ही होता है ॥२१॥

नित्यशुद्धो नित्यबुद्धो नित्यमुक्तो निरञ्जनः ।
स्वप्रकाशो निराधारः प्रदीपः सर्ववस्तुषु ॥२२॥

पारमार्थिक सत् होने के हेतुवश, यह आत्मा हमेशाँ ही सर्वथा शुद्ध रहता है। इसमें पाप-पुण्यादि एवं रागद्वेषादि का संसर्ग कथञ्चिदपि नहीं होता, इसीलिए यह आत्मा नित्यशुद्ध कहलाता है। स्वयं ही होने के हेतुवश यह हमेशा पूर्णतः सर्वबोधमय होता है। इसे कभी किसी प्रकार के अवबोध को, कहीं से भी प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होती है; अतएव यह नित्यबुद्ध कहलाता है, "रूपैः सप्तभिरात्मानमात्मनैव बधान्ति प्रकृतिः। विमोचयति च केवलेनैक रूपेण" इस कारिका के अनुसार धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान अवैराग्य और अनैश्वर्य इन सात स्वरूपों के द्वारा तो प्रकृति अपने आपको बन्धन में डालती है, तथा केवल एक ज्ञान स्वरूप से अपने आपको मुक्त करती है। तथा "विमुक्तमोक्षार्थं वा प्रधानस्य" इस सूत्र के अनुसार भी आत्मा पुरुष तत्व पारमार्थिक रूप से तो नित्यमुक्त ही होता है, यह तथ्य सुस्पष्ट किया गया है। इससे सुस्पष्ट है, कि—यह नित्यमुक्त तत्व है। स्वयं असंग होने के हेतुवश किसी भी वस्तु से कथञ्चिदपि सम्पृक्त नहीं होता है। यह तो सर्वथा जैसे कमल का पत्ता पानी में डूब जाने पर भी पानी से सम्पृक्त नहीं होता है, उसी तरह से सर्वथा निर्लिप्त होने के हेतुवश यह निरंजन कहलाता है। जैसे घट-पटआदि को देखने के लिए सूर्य अग्नि आदि प्रकाशक वस्तुओं के प्रकाश की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार से आत्मा का साक्षात्कार करने के लिये प्रकाशकान्तर की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि यह स्वयं प्रकाश स्वरूप है।

सभी तत्वों में प्रदीप की तरह यह तत्व प्रकाशमय होने के हेतुवश इसे किसी के आधार की भी आवश्यकता नहीं होती है। इसीलिए यह निराधार भी कहलाता है ॥२२॥

नन्वेवमेकतैवास्तु लाघवादात्मनां खवत्।
धीष्वेव सुखदुःखादि-वैधर्म्यादिति चेन्न तत् ॥२३॥

भोगाभोगादिवैधर्म्येणैकरूपेऽपि चिद्गणे।
श्रुतिस्मृतिभ्यामुक्तेन भेदसिद्धेःपरस्परम् ॥२४॥

सुखादिप्रतिबिम्बात्मा भोगोऽप्यस्य न वस्तुतः।
तथाप्यस्य चितो भावाभावौ स्यातां हि भेदकौ ॥२५॥

औपाधिकौ यथा श्यामरागौ स्फटिकभेदकौ।
खदृष्टान्तश्च विषमो वैधर्म्यासिद्धितोऽम्बरे ॥२६॥

इति श्रीविज्ञानभिक्षुविरचिते सांख्यसारे पुरुषस्वरूपपरिच्छेदः।

यदि पूर्वपक्षी कहता है कि इस प्रकार से तो सभी आत्म तत्वों की आकाश की तरह एकता ही स्वीकृत हो, क्योंकि—जो प्रत्येक जीवात्मा में परस्पर सुख-दुःखादि वैधर्म्य देखने को मिलते हैं; वे तो सभी उन-उन जीवात्माओं से सम्बद्ध उनकी बुद्धियों में ही होते हैं। अतः सभी चैतन्य पुरुष तत्वों में आकाश की तरह एकता ही मानी जानी चाहिए। इस पर उत्तर पक्ष में कहते हैं कि—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि सम्पूर्ण चैतन्य वर्ग में भोगाभोगादि वैधर्म्य के समान रूप से होने पर भी वेद और स्मृति शास्त्रों द्वारा परस्पर प्रतिपादित भेद सिद्धि के हेतुवश सम्पूर्ण चैतन्य वर्ग में परस्पर भेद मानना ही युक्तियुक्त है। जो इस चैतन्य तत्व में सुख दुःख आदि का वुद्धि वृति के प्रतिबिम्ब के रूप में भोग बतलाया गया है, वह भी वास्तविक नहीं है। फिर भी आत्म ज्योति में उस प्रतिविम्बात्मक भोग की सत्ता का होना और उस भोग की सत्ता का न होना, ये दोनों स्थितियाँ ही पारस्परिक भेद को स्पष्ट करने वाली होती हैं। जैसे शुद्ध स्फटिक मणि के समक्ष काली वस्तु आने पर उसका प्रतिविम्ब स्फटिक में गिरने पर श्वेत होते हुए भी काली दीखने लगती है, तथा औपाधिक रूप से उस समय में वह काली स्फटिक मणि रहती है। इसी तरह लाल रंग की कोई वस्तु स्फटिक मणि में प्रतिविम्वित होती हैं, तो वह स्फटिक मणि श्वेत होने पर भी लाल दिखाई देती है। वस्तुतः यह कालापन तथा लालिमा दोनों स्फटिक मणि के वैशिष्ट्य नहीं होने पर भी औपाधिक रूप से रहते

हैं, तथा उस समय उस मणि में भेद को प्रकट करते हैं। जो आकाश की तरह आत्माओं में परस्पर सर्वथा एकत्व का प्रतिपादन करने का दृष्टान्त दिया गया है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार प्रतिविम्वात्मक भोग की सत्ता का पुरुष में होना अथवा ऐसे भोग का भी अभाव होना इत्यादि वैशिष्ट्यों को चैतन्य तत्व आत्मज्योति में वैधर्म्य का प्रतिपादन किया जाता है। ऐसा कोई भी वैधर्म्य अखण्ड आकाश में सिद्ध नहीं हो सकता। अतः आकाश की तरह सम्पूर्ण आत्माओं की अखण्ड एकाकारता नहीं मानी जा सकती। ॥२३-२६॥

इस तरह श्रीविज्ञानभिक्षु द्वारा लिखे गये, सांख्यसार नामक ग्रन्थ में पुरुष के स्वरूप का विवेचन करने वाला उत्तरभाग का प्रथम परिच्छेद परिपूर्ण हुआ।

———

द्वितीयः परिच्छेदः

द्वितीय परिच्छेद का प्रारम्भ करते हुए आचार्य श्री विज्ञान भिक्षु लिखते हैं; कि—अब इस परिच्छेद में मैं आत्मतत्त्व और अनात्मतत्त्वों के धर्मों की पारस्परिक भिन्नता को विस्तार के साथ बतलाऊँगा। क्योंकि वे वैधर्म्य ही आत्मतत्त्व की वैशिष्टता और अनात्मतत्त्वों की न्यूनता स्वरूप गुणदोषात्मक होते हैं। और यह भी निश्चित है; कि जब तक गुण दोषात्मक वैधर्म्यों का भान न हो, तब तक विवेकज्ञान नहीं हो सकता। इसीलिए श्रीभिक्षु वैधर्म्यों को सुस्पष्ट करते हैं; कि जिससे सुस्पष्ट रूप से बहुत अच्छी तरह से विवेक हो सके।

अथात्मानात्मवैधर्म्ये गुणदोषात्मके तयोः।
वक्ष्ये विस्तरतो येन विवेकोऽतिस्फुटो भवेत् ॥१॥

यहाँ पर यह तथ्य समवधेय है; कि—आत्मा निर्विकारी निरञ्जन निर्गुण निराकार होने के हेतुवश पारमार्थिक रूप से निर्धर्मक ही होता है। तथापि केवल आत्मतत्त्वजिज्ञासु उसे कैसे पहिचाने एतदर्थ प्रकृति और प्राकृत तत्त्वों के धर्मों के उसमें नहीं होने का प्रतिपादन करना एवं उसकी ऐसी विशेषताओं की ओर संकेत करना लक्ष्य है, जिससे अनात्म तत्त्वों से पृथक्तया उसे सुस्पष्ट रूप से समझा जा सके। इसी दृष्टि से यहाँ पुरुषतत्त्व के गुण और अनात्मतत्त्व के दोषस्वरूप वैधर्म्यों का प्रतिपादन करने की प्रतिज्ञा की गयी है। जैसे कि सांख्यकारिका में भी "त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि। व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतः तथा च पुमान्।" इस कारिका द्वारा प्रकृति और प्राकृत तत्त्वों की समानता और उनसे पुरुष तत्त्व की निर्गुणता, विवेकशीलता, अविषयिता, अन्य तत्त्वों से विशिष्टता, चेतनता, अपने द्वारा किसी तत्त्वान्तर को प्रकट नहीं करने की विशेपता स्वरूपिणी असमानताएँ बतलायी गयी हैं। उसी तरह यहाँ पर भी आत्मतत्त्व और अनात्मतत्त्वों का विश्लेषणपूर्वक सही-सही ज्ञान सम्पन्न हो सके; एतदर्थ आत्मा के लिए गुण शब्द का प्रयोग औपाधिक रूप से ही किया गया है ॥१॥

सामान्यात्मघनाकाशे सान्निध्येरितशक्तिभिः।
जायते लीयते भूत्वा भूयोऽयं जगदम्बुदः ॥२॥

सामान्य आत्मघन स्वरूपी आकाश में सान्निध्य मात्र से प्रेरित शक्तियों

द्वारा यह संसार रूपी बादल उत्पन्न होता है, लीन होता है, होकर भी यह पुनः प्रकट और लीन होता ही रहता है ॥२॥

त्रिगुणात्मकशक्तीनां परिणामैरतश्चितिः ।
आधारविधया विश्वोपादानमविकारतः ॥३॥

इसलिए सत्त्वगुण; रजोगुण और तमोगुण इन तीनों गुणों के स्वरूप में रहने वाली प्रकृति इत्यादि शक्तियों के परिणामों द्वारा आत्म ज्योति स्वयं किसी भी तरह से विकृत नहीं होते हुए, केवल आधार विधा से ही सम्पूर्ण संसार का उपादान कारण बनती है ॥३॥

यथाऽऽधारतया तोयं धरोपादानमिष्यते ।
स्वस्थपार्थिवतन्मात्रद्वारेणैवं चितिमता ॥४॥

जिस प्रकार से आधार के रूप से जल पृथिवी के उपादानत्व की अपेक्षा करता है। इसी प्रकार से अपने ही अन्दर रहने वाले पृथिवी तन्मात्र के द्वारा ही आत्मज्योति भी मानी गयी है ॥४॥

अतो जगदुपादानमपि ब्रह्माऽविकारतः ।
कूटस्थनित्यपर्य्याय परमार्थं सदुच्यते ॥५॥

इसलिए स्वयं विकृत नहीं होते हुए भी शुद्ध ब्रह्म सम्पूर्ण संसार का उपादान कारण बनता है। इसीलिए वह ब्रह्म हमेशाँ विद्यमान रहने वाला कभी किसी भी स्थिति में विकृत नहीं होने वाला सर्वदा समभाव को समधिगत कर कूटस्थ नित्य इत्यादि पर्य्यायवाची शब्दों से व्यवहृत होता हुआ यह तत्त्व पारमार्थिक रूप से सत् ही होता है। अर्थात् अनादिकाल से अनन्त काल यावत् इसकी स्थिति बनी ही रहती है। अतएव यह परमार्थसत् कहलाता है ॥५॥

स्वार्थत्वात् स्वानुभूत्या च सिद्धत्वात् परमार्थसत् ।
स्वतः स्थित्या स्वतः सिद्ध्या लोकैः सन्निति गीयते ॥६॥

यह आत्म तत्त्व परमार्थ सत् क्यों कहलाता है ; इस तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं कि—संघातपरार्थत्वात् इत्यादि के द्वारा त्रिगुणात्मक प्रकृत्यादि तत्त्वों की परार्थता अर्थात् ये सभी तत्त्व संघात शून्य चेतन तत्त्व के लिए ही होते हैं। किन्तु यह चेतन तत्त्व अन्य किसी तत्त्व के लिए नहीं होता है, अपितु सभी तत्त्वों का स्वयं ही उपभोक्ता होता है। इस तरह संसार में भी जो परम पूज्य सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त कर लेने वाले होते हैं ; उनकी सेवा सभी करते हैं। किन्तु उनसे सेवा कोई करवाता नहीं, वे केवल स्वान्तःसुख

हेतु अपने आप अपने उद्धारार्थ जो कुछ करना हो, करते रहते हैं। उसी प्रकार से आत्मा अन्यों के लिए उपभोग्य नहीं बनता, वह सर्वथा उपभोक्ता ही होता है, अतएव सर्वथा स्वार्थ ही कहलाता है। उसके अपने आपके लिए ही होने के हेतुवश भी वह परमार्थ सत् माना गया है। और आत्म तत्त्व को सिद्ध करने के लिए अन्यान्य साधनों से कार्य नहीं चलता, वह तो केवल अपनी अनुभूति के द्वारा ही सिद्ध होता है। इस तरह केवल अपनी अनुभूति मात्र से सिद्ध होने वाला होने के कारण भी वह पारमार्थिक रूप से सर्वथा सत् तत्त्व कहलाता है। आत्म तत्त्व की सिद्धि स्वतः होने से तथा अपनी स्थिति भी स्वतः होने के हेतुवश सम्पूर्ण संसार के लोगों द्वारा बड़े आदर के साथ आत्म तत्त्व को सत् कहा जाता है ॥६॥

प्रतिक्षणविकारेण तैस्तै रूपैरपायतः ।
प्रकृत्यादिरसत् सर्वो जडार्थोऽब्धौ तरङ्गवत् ॥७॥

जिस प्रकार से समुद्र में लहरें प्रत्येक क्षण में उठती हैं, लहराती हैं, और शान्त हो जाती हैं। उसी प्रकार से असत् स्वरूप से प्रयुज्यमान प्रकृति आदि सम्पूर्ण जड़ विषय हर पल में होने वाले विकार से उन उन स्वरूपों से हटते रहने के हेतुवश असत् कहलाते हैं।

यद्यपि प्रकृति नामक जड़ तत्त्व कारणावस्थापन्न नित्य माना जाता है; तथा प्रकृतित्वेन सत् होता है। तथापि विकृतित्वेन परिणमनशील होने के हेतुवश असत् हो जाता है। इसीलिए यहाँ प्रतिक्षण विकार के द्वारा ही असत्त्व प्रतिपादित किया गया है। मूल प्रकृतित्वेन असत्त्व नहीं ।.७॥

यत्तु कालान्तरेणापि नान्यसंज्ञामुपैति वै ।
परिणामादिसम्भूतां तत् वस्त्वित्यादिकस्मृतेः ॥८॥

जो तत्त्व कालान्तर में भी परिणामादि से होने वाले दूसरे नाम को नहीं पाता, वही त्रिकालाबाधित सत् तत्त्व कहलाता है। अर्थात् वस्तु तत्त्व या वास्तव में उसी स्वरूप में रहने वाला तत्त्व है। इत्यादिक रूप से विष्णु-पुराणादि स्मृति ग्रन्थों में प्रतिपादित किया जाने के कारणवश केवल आत्म तत्त्व ही सत् होता है। और जो तत्त्व महत् तत्त्व, अहंकार आदि के परिणाम-क्रम से संज्ञान्तर को प्राप्त हो जाता है। वही प्रकृति नामक तत्त्व असत् कहलाता है। विकृतिमत्ता ही यहाँ असत्ता की द्योतक मानी गयी है ॥८॥

परार्थाधीनसत्त्वाच्च परदृष्ट्या च सिद्धितः ।
परतः सन्नसन्नेव तत्परापेक्षया मतः ॥९॥

पर यहाँ चेतन तत्त्व पुरुष को कहा जाता है। उसी के प्रयोजन भोग

और मोक्ष को सिद्ध करने के लिए प्रकृति एवं प्राकृत तत्त्व परार्थं होते हैं। ऐसे परार्थं तत्त्वों के अधीन ही सम्पूर्ण संसार की सत्ता होने के हेतुवश और उस चेतन तत्त्व के आत्मज्योति की दृष्टि से सिद्ध होने के कारणवश चेतन तत्त्व के भोगापवर्गार्थ ही सत्ता में रहने वाला सम्पूर्ण जड़ जगत् उसकी तुलना में असत् ही माना गया है ॥९॥

सतोऽस्तित्वन्तु नासत्ता नास्तित्वे सत्यता कुतः ।
इति गारुडतश्चैवं सदसत्त्वव्यवस्थितेः ॥१०॥

किन्तु किसी भी दृष्टि से जिसे सत् माना गया है। उसका अस्तित्व तो है ही, ऐसी स्थिति में असत्ता कैसे मानी जा सकती है। और जिस तत्त्व का अस्तित्व ही नहीं हो, तो उसकी सत्यता कैसे हो सकती है। अर्थात् असत् वस्तु कथञ्चिदपि सत् नहीं हो, सकती। इस प्रकार से गरुड़पुराण के वचन के अनुसार सत्त्व और असत्त्व सत्ता और असत्ता की व्यवस्थिति वतलाने के हेतुवश इस सम्पूर्ण संसार को सदसदात्मक ही मानना पड़ता है। न सर्वथा सत् है और न सर्वथा असत् ही ॥१०॥

अतो न सन्नासदिदं जगत् सदसदात्मकम् ।
असद् विषयकत्वाच्च तस्य धीस्तात्त्विकोभ्रमः ॥११॥

इसलिए यह सम्पूर्ण संसार न तो केवल सत् है ; और न केवल असत् ही, अपितु यह सदसत् स्वरूप वाला है। शब्द,—स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन असत् नश्वर एवं क्षणिक विषयों वाला होने के हेतुवश, उसकी सत्ता को पारमार्थिक रूप से मानना तो वास्तविक रूप में भ्रम ही है ॥११॥

जगद्वृक्षस्य चैतन्यं सारोऽसारस्तथेतरत् ।
प्रपञ्चस्य स्थिरांशो हि चितिरेवाविकारतः ॥१२॥

इस संसार रूपी वृक्ष का तत्त्व चैतन्य आत्मज्योति ही है। उसके अलावा सभी वस्तुएँ संसार में निःसार हैं। क्योंकि इस सम्पूर्ण प्रपञ्च का स्थिर रहने वाला भाग सुनिश्चित रूप से सर्वथा निर्विकार रूप से रहने वाली आत्म-ज्योति (चितिशक्ति) ही है ॥१२॥

तदन्यदखिलं तुच्छमसारत्वादुदीर्य्यते ।
तथाऽनृतमसच्चादि तदपेक्ष्यास्थिरत्वतः ॥१३॥

आत्मज्योति के अतिरिक्त सम्पूर्ण सांसारिक प्रपञ्च निःसार होने के

हेतुवश तुच्छ कहलाता है। वैसे ही "ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या" इत्यादि प्रयोगों के द्वारा निखिल जगत् को मिथ्या भी बतलाया ही जाता है। और परिवर्तनशील होने के हेतुवश एवं आपेक्षिक अस्थिरता के कारणवश वह असत् कहा जाता है ॥१३॥

एवविधैवात्मसत्ता ऽन्याऽसत्ता च दर्शिता।
वासिष्ठादौ विस्तरतो यथा लेशात् तदुच्यते ॥१४॥

इसी प्रकार की आत्म तत्त्व की पारमार्थिकी सत्ता और तदितर निखिल संसार की असत्ता योगवासिष्ठ इत्यादि ग्रन्थों में सुविस्तृतरूप से जैसे बतलायी गयी है, वैसे ही संक्षेप से यहाँ बतलायी जा रही है ॥१४॥

स्वप्नो जाग्रत्यसद्रूपः स्वप्ने जाग्रदसद्वपुः।
मृतिर्जन्मन्यसद्रूपा मृतौ जन्माप्यसन्मयम् ॥१५॥

स्वप्नावस्था में जो कुछ स्थितियाँ अनुभव में आती हैं; वे ही जाग्रत्—अवस्था में असत्य स्वरूप वाली, सर्वथा अवास्तविक, नगण्य व तुच्छ होती हैं। उसी प्रकार से जिस समय में प्राणी स्वप्न ले रहा होता है; उस समय में उसे केवल स्वप्न की स्थिति ही सत्य प्रतीत होती है; और जाग्रत् अवस्था की सम्पूर्ण अनुभूतियाँ असत् प्रतीत होती हैं। इसी प्रकार से जन्म हो जाने पर इससे पूर्व की मृत्यु की स्थिति असत् तथा मृत्यु हो जाने पर उससे पूर्व की जीवनावस्था की स्थिति असत् प्रतीत होती है ॥१५॥

जगन्मयी भ्रान्तिरिति न कदापि न विद्यते।
विद्यते न कदाचिच्च जलबुद्बुद्वत् स्थितम् ॥१६॥

सम्पूर्ण सांसारिक स्थिति की वास्तविकता समझना सर्वथा भ्रम है; ऐसी बात नहीं है। ऐसा कभी भी नहीं है। यहाँ नञ् द्वय का प्रयोग सुदृढ़ता प्रकट करने के लिए हुआ है। अर्थात् सम्पूर्ण संसार की वास्तविकता मानना सर्वथा भ्रान्ति है ही। और कभी प्रतीति होती है, वह होता कभी भी नहीं। जैसे जल में उठने वाला बुलबुला प्रतीत तो होता है; किन्तु वस्तुतः उसका अस्तित्व है ही नहीं। उसी प्रकार से संसार के विषय में समझना चाहिए; कि संसार की स्थिति प्रतीत तो होती है किन्तु वह पारमार्थिक रूप से होना ही नहीं ॥१६॥

आत्मैवास्ति परं सत्यं नान्याः संसारदृष्टयः।
शुक्तिकारजतं यद्वद् यथा मरुमरीचिकाः ॥१७॥

आत्म तत्त्व ही परम सत्य अर्थात् त्रिकालाबाधित नित्य, निरंजन, शुद्ध,

बुद्ध, मुक्त स्वभाव वाला पारमार्थिक रूप से विद्यमान रहने वाला, सर्वोत्कृष्ट, परम तत्त्व है। संसार में दृग्गोचरीभूत सम्पूर्ण वस्तुएँ तो केवल इस परम सत्य में ही शीप में चाँदी की प्रतीति की तरह ही प्रतीत होती हैं, वस्तुतः है नहीं अथवा रेतीले स्थान में (रेगिस्तान) में ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्न में जोरदार धूप की लहरों में जल की प्रतीति की तरह प्रतीत होने से सूर्य की किरणों में प्रतीतमान जल सत्य हो ऐसा प्रतीत होता है। वस्तुतः वे किरणें उस जल की लहरों के रूप में सत्य नहीं हैं। अर्थात् आत्मतत्त्व ही सत् है मृगतृष्णा की तरह ही सांसारिक वस्तुओं की अनुभूति भी मिथ्या है ॥१७॥

अस्ति सर्वगतं शान्तं परमात्मघनं शुचि।
अचिन्त्यचिन्मात्रवपु; परमाकाशमाततम् ॥१८॥

सर्वोत्कृष्ट आकाश की तरह सर्वत्र फैला हुआ अचिन्त्म केवल आत्म-स्वरूप सब में व्याप्त रहने वाला शान्त परम पवित्र परमात्मघन आत्म ज्योति है ॥१८॥

तत्सर्वगं सर्व शक्ति सर्वं सर्वात्मकं स्वयम्।
यत्र यत्र यथोदेति तथाऽस्ते तत्र तत्र वै ॥१९॥

वह आत्म तत्त्व सबमें व्याप्त रहने वाला, सबकी शक्ति के रूप में रहने वाला, स्वयं ही सब कुछ एवं सभी स्वरूपमय है। अतः जहाँ-जहाँ जैसे-जैसे उदित होता है, वहाँ-वहाँ सुनिश्चित रूप से वैसे ही स्वरूप में है ॥१९॥

आविर्भावतिरोभावमयास्त्रिभुवनोर्मयः।
स्फुरन्त्यतितते यस्मिन्मराविव मरीचयः ॥२०॥

अत्यन्त फैले हुए सुविस्तृन आत्म तत्त्व में ही जैसे रेगिस्तान की रेती में ग्रीष्म ऋतु के मध्याह्न में सूर्य की किरणें समुद्र की लहरों की तरह प्रतीत होती हैं। उसी प्रकार से तीनों लोक रूपी लहरों का प्रकट होना और लीन होनाइसी स्वरूप को धारण करती हुई केवल प्रतीत होती हैं, वास्तव में जैसे रेगिस्तान में न समुद्र होता है, और न लहरें ही होती हैं। वैसे ही सुव्यापक इस आत्मतत्त्व में ही तीनों लोकों की प्रतीति मात्र होती है। वस्तुनः केवल आत्म तत्त्व ही है, तदतिरिक्त कुछ नहीं ॥२०॥

असत्येव सतीं तोयनद्येव लहरी चला।
मनसेवेन्द्रजालश्रीर्जागती प्रवितन्यते ॥२१॥

जैसे मन के द्वारा ही काल्पनिक इन्द्रजाल की शोभा फैलती है, वैसे ही

न होते हुए भी होती हुई सी जल से परिपूर्ण नदी और चंचल लहर प्रतीत होती है। उसी प्रकार से सम्पूर्ण संतार भी कल्पनामय ही फैलाया जाता है ॥२१॥

ब्रह्मणा तन्यते विश्वं मनसैव स्वयम्भुवा।
मनोमयमतो विश्वं यन्नाम परिदृश्यते ॥२२॥

स्वयमेव प्रादुर्भूत होने वाले ब्रह्माजी के द्वारा अपने मन से ही सम्पूर्ण जगत् का फैलाव किया जाता है। इसलिए जो कुछ भी संसार दिखाई देता है। वह सब कुछ मानसिक ही है। अर्थात् संसार की पारमार्थिकता किसी भी तरह नहीं मानी जा सकती है ॥२२॥

यो ह्यशुद्धमतिर्मूढो रूढो न वितते पदे।
वज्रसारमिदं तस्य जगदस्त्यसदेवसत् ॥२३॥

आध्यात्मिक शास्त्रों का श्रवण-मनन जिस व्यक्ति ने नहीं किया और अपनी बुद्धि को निर्मल नहीं बनाया, ऐसा अशुद्ध बुद्धि वाला मूर्ख सुविस्तृत साधना मार्ग के पथ पर आरूढ नहीं हो सका। उसका संसार तो सर्वथा असत् होने पर भी उसकी दृष्टि में तो सर्वथा सत् ही है। तीनों लोकों में कठोरतम वस्तु वज्र माना जाता है। उस वज्र का भी सार निकाला जाय तो वह उससे भी अधिक कठोर होगा ही उसी समधिक कठोर वज्रसार के समान सुदृढ़ यह संसार उस मूर्ख प्राणी की दृष्टि में होता है। अर्थात् वह मूर्ख अपनी मूर्खतावश सर्वथा नश्वर संसार को ही परम सत्य चिरस्थायी एवं सुदृढ़ मानता है ॥२३॥

अव्युत्पन्नस्य कनके कानके कटके यथा।
कटकज्ञप्तिरेवास्ति न मनागपि हेमधीः ॥२४॥

जैसे जो व्यक्ति सोने के विषय में जानकारी नहीं रखता, उस व्यक्ति की दृष्टि में तो सोने के कड़े के विषय में कड़े मात्र का ही बोध होता रहता है, थोड़ा भी उसकी बुद्धि में ऐसा नहीं आता कि यह कड़ा सोना ही है। परन्तु वस्तु स्थिति यह है कि वह कड़ा कहलाना उसका व्यवहार मात्र के लिए है। अन्यथा वह वास्तव में तो सोना ही है। जो आज कड़ा है, वही कल कुंडल एवं परसों नुपूर आदि किसी भी अलंकार आदि स्वेप्सित वस्तु के रूप में परिणत किया जा सकता है, किन्तु रहेगा सोना ही। उसका स्वर्णत्व सत्य है, कटकत्व असत्य है। कहने का भाव यह है कि—आत्म तत्त्व से बनने वाला दृग्गोचरीभूत संसार ही मूर्ख की निगाह में सत्य प्रतीत होता रहता है। जबकि

इसका अस्तित्व सर्वथा कड़े की ही तरह सर्वथा अस्थायी है, आत्मत्व ही सर्वथा स्थायी है। अर्थात् आत्मा ही था, आज संसार के रूप में भी आत्मा ही व्यवहृत हो रहा है। और कल फिर आत्मा ही रह जायगा। अतः सोना खरा है, कटकत्वादि असत् हैं। वैसे ही आत्मा ही चिरन्तन सत्य है, और संसारादि उसके स्वरूप सर्वथा असत् ही हैं। ऐसा समझना चाहिए ॥२४॥

तथाऽज्ञस्य पुरागारनगनागेन्द्रभासुरा।
इयं दृश्यदृगेवास्ति न त्वन्या परमार्थदृक् ॥२५॥

जैसे सोना ही कड़े के नाम से व्यवहृत होता है। तब विद्वान् तो जानता है, कि—यह कड़े के आकार में परिणत किया हुआ सोना ही है। और वह स्वयं व्यवहार भी उसी रूप में करने लगता है। जैसे कोई उसे पूछे कि आज आप क्या खरीद लाये है। तो वह यह कहता है कि दश तोला सोना खरीदा है। जब कोई स्पष्ठीकरण चाहता है कि वह किस रूप में है, किसी अलंकार के रूप में या पासे के रूप में ही। तब वह वतलाता है कि कड़े के रूप में सोना खरीदा हैं; इत्यादि।

वैसे ही मूर्ख प्राणी की तो नगर, घर, पहाड़, हाथी आदि स्वरूपों में सुशोभित होने वाली दृश्य वस्तु परक ही दृष्टि होती है। किन्तु उससे भिन्न परमार्थ दृष्टि नहीं होती है। अर्थात् यह नगर, यह घर, ये पहाड़ और इन हाथी, घोड़े, मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप आदि करोड़ों रूपों में दीखने वाले उस आत्म तत्त्व को सामान्य प्राणी नहीं पहिचान पाता, और केवल इन स्वरूपों को ही सत्य मानता रहता है ॥२५॥

इत्यादिवाक्यैर्वासिष्ठे नात्यन्यासत्यतोदिता।
जगतोऽपरवाक्यैर्हि सत्कार्य्यं प्राकृतं मतम् ॥२६॥

इत्यादि वाक्यों द्वारा योगवासिष्ठ में इस सम्पूर्ण संसार की सर्वथा असत्यता नहीं बतलायी गयी है। अर्थात् जैसे कड़े के रूप में सोना रहता है। तो वह कटकत्वेन अस्थायी जरूर है। किन्तु स्वर्णत्वेन तो सर्वथा स्थायी है ही। उसी प्रकार से संसार के रूप में विद्यमान आत्म तत्त्व संसारत्वेन स्थायी नहीं हैं, किन्तु आत्मात्वेन तो स्थायी है ही। अतः इसकी सर्वथा असत्यता नहीं मानी जा सकती। क्योंकि दूसरे वाक्यों के द्वारा यह सम्पूर्ण कार्य जगत् प्राकृत है। और सत् अर्थात् प्रकृतित्वेन हमेशाँ विद्यमान रहने वाला है। और अवसर

आने पर व्यक्त हो जाता है। तथा पुनः कछुए के अंगों की तरह अपने कारण में ही लीन होकर स्वयं अव्यक्त प्रधान हो जाता है। ऐसा माना गया है। अतः इस कार्य जगत् की सर्वथा असत्यता नहीं मानी जाती है। क्योंकि संसार का यह नियम है, कि जो वस्तु सर्वथा नहीं है अर्थात् कहीं भी किसी भी रूप में जिसकी सत्ता नहीं हो, वह कभी भी किसी भी रूप में पैदा नहीं हो सकती। और जो वस्तु है, वह चाहे कितने ही रूपान्तरों में परिवर्तित होती रहे, या की जाया करे, किन्तु उसे मिटाया नहीं जा सकता। इसीलिये श्लोक में श्री भिक्षु ने हि शब्द का प्रयोग किया है। कि—सुनिश्चित रूप से प्राकृत कार्य सत् माना गया है। अतः यहाँ यह समझना चाहिए कि जैसे एक नट अथवा नाटक मंडली में काम करने वाला या सिनेमा का कलाकार विभिन्न वेशभूषा आदि को धारण करता हुआ विभिन्न नाम रूपों से व्यवहृत होता रहता है। किन्तु मूल रूप से वह स्वयं तो होता ही है। यदि वह स्वयं नहीं हो तो फिर वह नैकविध स्वरूपों को धारण कर नैकविध चरित्रों का दिग्दर्शन कैसे करा सकता है। उसी प्रकार सम्पूर्ण कार्य जगत् के विषय में भी समझना चाहिए ॥२६॥

नामरूपविनिर्मुक्तं यस्मिन् सन्तिष्ठते जगत्।
तमाहुः प्रकृतिं केचिन्मायामेकेऽपरे त्वणून् ॥२७॥

नाम रूप शून्य यही संसार जिस तत्त्व में अन्तर्लीन अच्छी तरह रहता है। उस तत्त्व को प्रकृति कहते हैं। क्योंकि सम्पूर्ण संसार सुख-दुःख और मोह से भरा पड़ा है। और विना सत्त्व गुण के सुख नहीं हो सकता। विना रजोगुण के दुःख नहीं हो सकता, और विना तमोगुण के मोह भी नहीं हो सकता है। इसीलिए प्रीत्यात्मक सत्त्वगुण अर्थात् सुख ही सत्त्व का स्वरूप है। अप्रीत्यात्मक रजोगुण अर्थात् दुःख ही रजोगुण का स्वरूप है। वैसे ही विषादात्मक तमोगुण होता है। अर्थात् मोह ही तमोगुण का स्वरूप है। प्र सत्त्वगुण का कृ रजोगुण का और ति तमोगुण का वाचक है। इसीलिए सुखदुःख मोहमय इस त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण संसार की नामरूपशून्यतया जिस तत्त्व में स्थिति रहती है। उसे प्रकृति कहा गया है।

कुछ वेदान्ती लोग उसी तत्त्व को माया कहते हैं। तो दूसरे नैय्यायिक लोग इसे परमाणुओं के रूप में बतलाते हैं। वस्तुतः है तो वही प्रकृति जिसे नैकधा व्यवहृत किया जाता है ॥२७॥

सुषुप्तावस्थया चक्रपद्मरेखा शिलोदरे ।
यथा स्थिता चितेरन्तरस्तथेयं जगदावली ॥२८॥

जैसे शिला के भीतर ही चक्र, पद्म आदि की रेखायें पहले से ही रहती हैं। जिन्हें शिल्पी विभिन्न साधनों द्वारा प्रत्यक्षता प्रदान करने का निमित्त बनता है। वस्तुतः वह बनाता कुछ भी नहीं ; सब कुछ शिला में पहले से ही रहता है। उसी प्रकार से सुषुप्तावस्था की आत्म ज्योति के भीतर यह अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड मण्डल पहले से ही विद्यमान रहता है।

यही तथ्य योगवासिष्ठ में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है। कि—जैसे मिर्ची में तीखापन, और वह वृक्ष के बीज में पुष्प फल आदि के सहित सम्पूर्ण वट वृक्ष रहता है, उसी प्रकार से आत्म ज्योति में ही तीनों लोक विद्यमान रहते हैं ॥२८॥

प्रकृतिव्रततिर्व्योम्नि जाता ब्रह्माण्डसत्फला ।
इत्यादिवाक्यैः सांख्यीयसत्कार्या द्युपवर्णनात् ॥२९॥

इस अनन्त आत्माकाश में प्रकृति नाम की सुविस्तृत बेल उत्पन्न हुई। जिसमें अनेक कोटि ब्रह्माण्ड रूपी श्रेष्ठ फल लगे हैं। इत्यादि वाक्यों के द्वारा सांख्यशास्त्रीय सत्कार्यवाद आदि का वर्णन करने के हेतुवश ऐसा मानना चाहिए, कि—ब्रह्म में ही प्रकृति और प्रकृति में ही सम्पूर्ण अनन्त कोटि ब्रह्माण्डस्वरूपी संसार विद्यमान हैं।

इसी तथ्य का प्रतिपादन योगवासिष्ठ में इस प्रकार किया गया है। कि—"फलपुष्पलतापत्र शाखाविटपमूलवान् । वृक्षबीजे यथा वृक्षस्तथेदं ब्रह्मणि स्थितम् (३/१००/११) जैसे फल, पुष्प, पत्ते, शाखा, टहनियाँ, तना एवं जड़ के सहित सम्पूर्ण वृक्ष उस वृक्ष के बीज में रहता है। उसी प्रकार से यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्डादि ब्रह्म में स्थित हैं। तथा लिखा है कि—

"सूर्यकान्ते यथा वह्निः यथा क्षीरे घृतं तथा ।
तत्रेदं संस्थितं सर्वं देशकालक्रमोदये ॥

(योगवासिष्ठ—१/९/२७-२८)

अर्थात् जैसे सूर्यकान्त मणि में अग्नि ; और दूध में घी रहता है। वैसे ही उस

ब्रह्म तत्त्व में ही प्रकृति एवं सम्पूर्ण प्राकृत वर्ग जो कि सम्यक् प्रकार से स्थित हैं देश और काल के क्रम के उदित होने पर यथा समय प्रकट होते हैं, तथा पुनः यथो समय उसी में लीन हो जाते हैं ॥२६॥

इति श्रीविज्ञानभिक्षुविरचिते सांख्यसारे आत्मानात्मनोः सत्यत्वासत्यत्व वैधर्म्यपरिच्छेदः

इस प्रकार श्रीविज्ञानभिक्षु द्वारा बनाये हुए सांख्यसार नामक ग्रंथ में आत्मतत्त्व एवं अनात्म तत्त्वों की सत्यता और असत्यता की पारस्परिक भिन्न धर्मता का प्रतिपादक द्वितीय परिच्छेद परिपूर्ण हुआ।)

तृतीयः परिच्छेदः

तदेवमात्मनः सत्ता दर्शिताऽन्यविलक्षणा ।
अथ चिद्रूपतां वक्ष्ये बुद्धिवृत्तिविलक्षणाम् ।।१।।

तो इस प्रकार से अन्य तत्त्वों से विशिष्ट लक्षण सम्पन्न आत्मा की सत्ता बतलायी गयी । अब बुद्धिवृत्ति से विलक्षण चिद्रूपता को बतलाऊँगा, ऐसा श्री आचार्य विज्ञान भिक्षु कहते हैं । इस तरह यहाँ इस परिच्छेद के प्रतिपाद्य विषय का निर्देश किया गया है ।।१।।

अनुभूतिश्चितिर्बोधो वेदनं चोच्यते पुमान् ।
वेद्यं जडं तमोऽज्ञानं प्रधानादिकमुच्यते ।।२।।

पुरुष नामक तत्त्व को ही अनुभूति, चिति, बोध और वेदन कहा जाता है तथा प्रकृति आदि तत्त्वों को ही वेद्य, जड़, तम, अज्ञान, प्रधान इत्यादि कहा जाता है । अर्थात् पुरुष तत्त्व का चर्म चक्षुओं से साक्षात्कार तो होता नहीं ; उसकी केवल अनुभूति ही होती है । इसीलिए उसे अनुभूतिमात्रगम्य होने से अनुभूति कहा जाता है, और उसकी अनुभूति स्वयं वही करता है । इसलिए भी वह अनुभूति स्वरूप ही होता है । सम्यक् प्रकार के ज्ञान के अर्थ में ही चिति धातु का प्रयोग होता है "चिति संज्ञाने" । स्वयं चेतन तत्त्व ही सम्यक् ज्ञानमय होता है और इसी चिति धातु से ही चिति शब्द की निष्पत्ति होने के हेतुवश ही चेतन तत्त्व को चिति नाम से भी पुकारते हैं । "वेत्तारं रे केन विजानीयात्" इस श्रुति के अनुसार इसे किसी तत्त्वान्तर के द्वारा नहीं जाना जाता, यह तो स्वयमेव बोधस्वरूप है । परन्तु इसके विपरीत ज्ञेय होने के कारण प्रकृति आदि तत्त्वों को वेद्य कहते हैं । निर्जीव होने के कारण उन्हें जड़ कहते हैं, तथा आत्म ज्योति की अपेक्षा प्रकाशशून्य होने के कारण तम कहते हैं । ज्ञातत्त्व केवल पुरुष होता है । अतः उससे भिन्न प्रकृति को ज्ञान शून्य होने से व अविद्यामय होने के हेतुवश अज्ञान कहते हैं । इसी तरह महदादि सम्पूर्ण तत्त्व इसी में लीन होते हैं । अतः प्रधीयन्ते तत्त्वान्तराणि यस्मिन् तत् प्रधानम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस प्रकृति को ही प्रधान नाम से भी व्यवहृत करते हैं ।।२।।

वेदनं वेद्यसम्बन्धादेव वेत्त्रभिधीयते ।
यथा प्रकाश्यसम्बन्धात् प्रकाशोऽपि प्रकाशकः ॥३॥

वेद्य तत्त्व प्रकृति से सम्बन्ध होने के हेतुवश ज्ञान-स्वरूप आत्मा वेत्ता कहलाता है ; जैसे प्रकाशित की जाने वाली वस्तु के साथ सम्बन्ध होने से ही प्रकाश भी प्रकाशित करने वाला बनता है ; और प्रकाशक कहा जाता है ॥३॥

यथा वाऽर्थोपरागेण भानमर्थस्य भासकम् ।
एवं वेद्योपरक्तस्यास्यांशस्याऽऽधारतांऽशिनि ॥४॥

अथवा यों कहें कि जैसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धाख्य विषयों के सम्पर्क से जो उनकी प्रतीति होती है । वही उनका भान कराने वाली मानी जाती है । इसी प्रकार वेद्य तत्त्व प्रकृति एवं प्राकृत तत्त्वों से सम्पृक्त हुए जीवात्मत्वेन व्यवहृत होने वाले अंश भूत आत्मा की परमात्मत्वेन व्यवह्रियमाण अंशी आत्म तत्त्व में आधारता मानी जाती है ॥४॥

असङ्गायां चितौ वेद्योपरागो यं न धीष्विव ।
किन्तु साक्षाद् द्वारतो वा चिति तत्प्रतिबिम्बनम् ॥५॥

जैसे बुद्धि तत्त्वों में विषयोपराग होता है ; उसी प्रकार से चिति शक्ति आत्म ज्योति में वेद्य तत्त्व प्रकृति एवं प्राकृत तत्त्वों का उपराग नहीं होता है । आत्म ज्योति में वेद्योपराग तो विषयाकाराकारित बुद्धि अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप रस, गन्ध इन विषयों के आकार से युक्त बुद्धि तत्त्व के साक्षात् प्रतिबिम्बन के द्वारा होता है, और सामान्य विषयों का उपराग इस बुद्धि तत्त्व के द्वारा परम्परया होता है । अर्थात् बुद्धि का उपराग आत्मा में साक्षात् होता होता है ; और विषयों का बुद्धि के द्वारा परम्परानुक्रम से होता है ॥५॥

बाह्य वृत्त्यारव्यकरणाभावादनुपरागतः ।
चितिर्नैवेक्षते चेत्यं विभुत्वेऽपि च सर्वतः ॥६॥

आत्म तत्त्व के सर्वत्र व्याप्त रहने पर भी वह व्यापक आत्म ज्योति सम्पूर्ण चेत्य तत्त्वमात्र का साक्षात्कार नहीं कर सकती, क्योंकि वृत्ति नामक साधन के अभाववश बाह्य विषयों के साथ आत्मा का उपराग नहीं हो सकता, और उपराग नहीं हो सकने के हेतुवश ही वह बाह्य शब्दादि को नहीं देखता ॥६॥

तथा चिदपि वृत्त्याख्यकरणाभावतोऽर्थवत् ।
स्वगोचरां वृत्तिमृते तिष्ठत्यज्ञातसत्तया ॥७॥

वैसे ही अपने ऊपर प्रतिविम्बित होने वाली वृत्ति के विना स्वयं आत्म ज्योति भी बुद्धिवृत्ति रूपी साधन के अभाववश शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध एवं तन्मय सम्पूर्ण सांसारिक विषयों की तरह ही अज्ञात सत्ता से रहती है। अर्थात् आत्मा को स्वानुभूति भी विना वृत्ति के नहीं हो सकती है। अतः स्वगोचर वृत्ति के विना स्वयं आत्मा की स्व-सत्ता अज्ञात रहती है। यानी उसे यह अनुभूति उस समय नहीं होती। अतः उसे प्रतिविम्बित वृत्ति के माध्यम से ही स्वानुभूति होती है ॥७॥

तदेवं चिन्निराकारा प्रकाशाकाशरूपिणी ।
तिष्ठत्यव्यक्तरूपा च मोक्षादौ वृत्त्यभावतः ॥८॥

तो इस प्रकार से आत्मज्योति मोक्ष आदि की स्थिति में सर्वथा वृत्तियों के अभाववश केवल प्रकाश स्वरूपी आकाश के रूप में स्थित होकर सर्वथा आकार प्रकार से शून्य निराकारत्वेन स्थित रहती है। अर्थात् चित्तवृत्ति के सर्वथा विरुद्ध हो जाने पर उसके प्रतिविम्ब के अभाव में नित्य, शुद्ध, बुद्ध एवं स्वभावतः मुक्त रहने वाला आत्मतत्त्व निराकार होता है, जो केवल प्रकाश-पुञ्जत्वेन स्थित रहता है ॥८॥

बुद्धिवृत्तिस्तु साकारा परिच्छिन्ना दीपवत् ।
व्यक्ता च सर्वदा तद्वद् असंख्या क्षणभङ्गुरा ॥९॥

बुद्धिवृत्ति तो साकार होती है; तथा दीपक की तरह ही अपने सीमित दायरे वाली (परिच्छिन्न) होती है। बुद्धिवृत्ति हमेशाँ ही व्यक्त स्वरूपापन्ना होती है। क्योंकि अव्यक्त में लीन होने पर बुद्धि का ही अस्तित्व प्रकृतित्वेन व्यवहृत होने लगता है। फिर वापिस गुणक्षोभ होने पर प्रकट होने पर ही वह व्यक्त कहलाती है। अर्थात् महत् तत्त्व के रूप में प्रस्फुटित होकर व्यक्त, अभिव्यक्त, प्रकट स्वरूप वाली हो जाती है। वैसी ही प्रत्येक पुरुष (प्रति-जीवात्मा) के प्रत्येक लिङ्गशरीर की अलग-अलग बुद्धि होने के कारण असंख्य होती है। और वह क्षण मात्र में रूपान्तरित हो जाने वाली होने से क्षणभंगुर कहलाती है ॥९॥

जड़ा च परदृश्यत्वात् घटदीपादिवन्मता ।
वृत्तेःप्रकाशता त्वर्थाकारत्वादक्षतैव हि ॥१०॥

और वह बुद्धिवृत्ति परदृश्य होने के हेतुवश घड़ा, दीपक आदि की तरह

जड़ मानी गयी है। सुनिश्चित रूप से विषय के आकार से मुक्त होने के हेतुवश इस बुद्धिवृत्ति की प्रकाश स्वरूपता तो अखण्डरूप से रहती ही है ॥१०॥

यथाऽस्याकारतार्हत्वादादर्शस्तत्प्रकाशकः ।
सर्वाकारत्वयोग्यत्वात् सैवं सर्वप्रकाशिका ॥११॥

जैसे शीशा दूसरे के आकार को ग्रहण करने के सामर्थ्य से युक्त होने के हेतुवश ही उन उन आकारों को ग्रहण करके प्रकाशित करने वाला होता है। वैसे ही बुद्धिवृत्ति भी सत्त्वगुणविशिष्ट प्रकाशमय होने के हेतुवश ही सभी आकारों को धारण करने में एवं अपने आपको उन उन विषयों के आकारत्वेन प्रकाशित करने में समर्थ होने के हेतुवश ही वह सभी विषयों को प्रकाशित करने वाली होती है। अर्थात् आत्म तत्त्व के समक्ष विषयों को स्वयं अपने अन्दर ग्रहण करके उनके आकारों सहित प्रतिविम्बित होती हुई आत्मा के भोग एवं मोक्ष की सिद्धि करती है। कहने का भाव यह है कि सत्त्वगुण विशिष्ट होने से ही बुद्धि प्रकाशमय होती है; और अपने प्रकाश में सभी विषयों को ग्रहण कर प्रतिविम्बन सामर्थ्य से पुरुष तत्त्व में प्रतिविम्बित होती हुई क्रमशः पुरुष तत्त्व के भोग और मोक्ष अथवा दोनों से एक, भोग को या मोक्ष को सम्पन्न करती है ॥११॥

न पुनर्वृत्तिद्रष्टृत्वं चितस्तद्भिन्नद्रष्टृता ।
वृत्तेर्यतो गौरवं स्यात् तयोर्ज्ञातृत्वकल्पने ॥१२॥

फिर भी बुद्धिवृत्ति की ही द्रष्टता नहीं मानी जा सकती है। क्योंकि उससे भिन्न आत्म ज्योति में ही द्रष्टता मानी जाती है। यदि बुद्धिवृत्ति और चिच्छक्ति आत्मज्योति इन दोनों में ज्ञातृत्व की कल्पना की जाय; तो क्योंकि सर्वत्र ज्ञातृत्व आत्मा में ही माना जाता है अतः यहाँ वृत्ति की भी ज्ञातृता मानने में व्यर्थ का गौरव होता है। इसीलिए केवल आत्मा में ही ज्ञातृता का माना जाना ही युक्तियुक्त है ॥१२॥

बुद्ध्यारूढं त्वन्यवस्तु तद्द्वारा प्रतिविम्बितम् ।
पश्यत्यनुभवो नान्यो द्रष्टा बुद्ध्यादिकोऽखिलः ॥१३॥

बुद्धिवृत्ति में आरूढ़ हुई अन्य सभी वस्तुएँ उसी बुद्धिवृत्ति के माध्यम से आत्म ज्योति में प्रतिबिम्बित होती हैं। और उस विषयाकाराकारित बुद्धिवृत्ति के प्रतिविम्ब द्वारा विषयों का अनुभव करने वाला आत्मतत्त्व ही द्रष्टा

कहलाता है। बुद्धि इत्यादिक तत्त्व किसी भी तरह द्रष्टा नहीं कहे जा सकते। क्योंकि वस्तुतः वे द्रष्टा होते ही नहीं; वे सभी सर्वत्र दृश्य ही वतलाये गये हैं। और यह सर्वथा स्पष्ट है; कि—दृश्य स्वयं द्रष्टा नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसा होने पर कर्मकर्तृविरोध होता है; जिसको कोई भी उचित नहीं मानता ॥१३॥

इत्येवं बुद्धिवृत्तिभ्यो वैलक्षण्यं चितीरितम्।
चिदचित्त्वाख्यवैधर्म्यं देहादिभ्यः स्फुटन्त्विदम् ॥१४॥

इस प्रकार से बुद्धिवृत्तियों से आत्म ज्योति में जो विलक्षणता होती है; वह वतलायी गयी है। आत्म ज्योति में चित्त्व एव तदतिरिक्त बुद्धि आदि तत्त्वों में अचित्त्व नाम से व्यवह्रियमाण जो पारस्परिक भिन्न-भिन्न धर्म विशिष्टता होती है। अर्थात् पार्थक्य होता है: यह सब कुछ शरीरादि जड़ वर्ग से भी सुस्पष्ट हो जाता है। अर्थात् शरीरादि जड़ वर्ग अचित्त्व विशिष्ट होता है। जवकि आत्मज्योति चित्त्व विशिष्ट होती है। यहाँ यह विशेप ध्यान रखने की वात है; कि—यहां विशेषण-विशेष्य भाव युक्तता या धर्म-धर्मिभावता आत्म-ज्योति में नहीं होती है। यह तो केवल व्यावहारिक दृष्टि से वतलायी गयी है। पारमार्थिक दृष्टि से तो आत्मा सर्वथा निर्धर्मक ही है ॥१४॥

अन्योऽन्यप्रतिविम्बेन सारूप्याद् वृत्तिबोधयोः।
वोधव्यवहृतिर्वृत्तौ लोहेऽग्निव्यवहारवत् ॥१५॥

आत्म ज्योति में वुद्धिवृत्ति का प्रतिविम्ब गिरता है; तथा वुद्धिवृत्ति भी आत्मज्योति से भासित होती है। इस प्रकार से एक दूसरे का एक दूसरे में प्रतिविम्ब होने के हेतुवश वुद्धिवृत्ति एवं उसके प्रतिविम्बात्मक वोध इन दोनों में समान स्वरूपता हो जाने से वुद्धिवृत्ति में ही वोध का व्यवहार किया जाता हैं। जिस प्रकार से लोहे को अग्नि में प्रतप्त कर लेने पर उससे भी व्यक्ति जल जाता है। और व्यवहार होता है; कि अमुक-व्यक्ति लोहे से जल गया परन्तु सत्य यह है, कि वह वहाँ लोहे से नहीं अपितु उस लोहे में संचरित हुई अग्नि से ही जला। क्योंकि दाहकत्व केवल अग्नि में ही होता है, लोहे में कभी भी नहीं। लोहे में अग्नि का सञ्चार होने पर स्वयं ठण्डा होते हुए भी वह लोहा गर्म कहलाता है, परन्तु वस्तुतः गर्म अग्नि ही है, लोहा नहीं; और जलाती भी अग्नि ही है, लोहा नहीं; तथापि केवल औपचारिक रूप से ही लोहे द्वारा दाह का प्रयोग होता है। उसी प्रकार से यहाँ पर भी केवल औपचारिक रूप मे वृत्ति में ही वोध का व्यवहार किया जाता है। जवकि

बोद्धृत्व तो केवल आत्मा में ही होता है। केवल प्रतिबिम्बन के प्रभाव से सारूप्यतावश वृत्ति में बोध का प्रयोग किया जाता है ॥१५॥

नैवाल्पबुद्ध्या शक्योऽयं विवेको वृत्तिबोधयोः।
तार्किका यत्र सम्मूढाः सांख्यानां श्रेष्ठता यतः ॥१६॥

स्वल्पतम सामान्य बुद्धि के द्वारा बुद्धिवृत्ति एवं बोध स्वरूप चैतन्य का विश्लेषण पूर्वक सही-सही ज्ञान यह विवेक नहीं हो सकता। क्योंकि इसी विवेक ज्ञान का याथातथ्येन निरूपक होने के हेतुवश ही साँख्य दार्शनिकों की श्रेष्ठता मानी जाती है। और इस विषय में नैय्यायिकों की अल्पज्ञता ही मानी जाती है। और कहा जाता है; कि—वृत्ति एवं बोध के विवेक के विषय में सही-सही निर्णयात्मक बुद्धि प्राप्त नहीं हो सकने से नैय्यायिक लोग सम्यक् प्रकार से मूढ़ावस्थापन्न हो गये तथा निर्णयात्मक बुद्धि प्राप्तिवश ही सांख्य दर्शन वेताओं की श्रेष्ठता मानी गयी है ॥१६॥

विज्ञानवादिनो बौद्धा वृत्तिबोधाविवेकतः।
ज्ञातात्मत्वश्रुतौ मूढा मेनिरे क्षणिकां चितिम् ॥१७॥

वृत्ति एवं बोध का विवेक नहीं होने के हेतुवश विज्ञानवादी बौद्धों ने ज्ञाता में आतमत्व का प्रतिपादन करने वाली श्रुति का सही-सही बोध न कर सकने के कारणवश आत्मज्योति को ही क्षणिक मान लिया है ॥१७॥

सत्त्वपुंसो विवेकोऽयं वृत्तितद्बोधरूपयोः।
नाशक्यः सुधियां यद्वद्धंसानां क्षीरनीरयोः ॥१८॥

वृत्ति स्वरूप सत्त्व गुण विशिष्ट बुद्धितत्त्व एवं वृत्ति के बोध स्वरूप चेतन तत्व इन दोनों का विश्लेषण पूर्वक परस्पर पार्थक्य ज्ञान स्वरूपी विवेक विशिष्ट बुद्धि सम्पन्न विद्वान् पुरुषों के लिए असम्भव नहीं है। जैसे मिले हुए दूध और पानी में से प्रत्येक को अलग-अलग करने का पूर्ण सामर्थ्य हंसों का होता है अतः सभी के लिए मिले हुए दूध और पानी को अलग-अलग कर सकना सम्भव नहीं होता, तथापि हंसों के लिए सम्भव है। उसी प्रकार से विद्वानों के लिए बुद्धिवृत्ति एवं चेतन तत्त्व के बोध का विवेक ज्ञान जन साधारण के लिए सामान्यतः असम्भव होने पर भी तत्त्वज्ञानी विद्वान् के लिए सर्वथा सम्भव है ॥१८॥

एतदन्तश्च संसारो मोक्षस्तत्रैव सस्थितः।
यद्वृत्तिभ्यो विवेकेन तद्बोधस्यावधारणम् ॥१९॥

जब तक विवेक ज्ञान नहीं होता अर्थात् सत्त्वपुरुषान्यताख्याति नहीं होती,

तब तक संसार का बन्धन रहता है। अर्थात्—सांसारिक अनुभव होता है। किन्तु हंस के नीर क्षीर विवेक की तरह जब जड़ चेतन तत्त्वों के भेद को सही सही स्वरूप में समझ लिया जाता है, तब ऐसा समझ लेने पर तो निर्गुण, निराकार, निर्लिप्त, शुद्ध, बुद्ध एवं स्वभावतः मुक्त रहने वाले आत्म तत्त्व की मुक्तत्वावस्था का अवबोध होने से उसकी स्व-स्वरूपावस्थिति हो जाती है। और उसी स्थिति की अनुभूति को मोक्ष कहते हैं। क्योंकि सांख्य सूत्र है कि "विमुक्तमोक्षार्थं वा प्रधानस्य" "न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद् योगादृते" इत्यादि सांख्य सूत्रों द्वारा तथा "तदा दृष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्" इत्यादि योग-सूत्रों द्वारा भी इसी विषय को सुस्पष्ठ किया गया है। इसी तथ्य को और भी सुस्पष्ट करते हुए लिखा है; कि जो निखिल वृत्तियों से विश्लेषण पूर्वक ज्ञान द्वारा उनके बोध की पूर्णतः निश्चयात्मक रूप से अनुभूति होती है, सो वही मोक्ष है ॥१६॥

सर्वोऽप्यनुभवं वेद न कश्चिदपि वेदनाम्।
विवेकमात्रमस्मिन् हि भासमानेऽप्यपेक्षते ॥२०॥

हर व्यक्ति अनुभव को ही जानता है, कोई भी बोध की प्रक्रिया को नहीं जानता। यद्यपि आत्मतत्व नित्य, शुद्ध एवं स्वभावतः मुक्त है। अतः सर्वथा नैकधा भासित होता रहता है। उसके भासित होने पर भी सुनिश्चिय रूप से सत्वादि से विश्लेषण पूर्वक पार्थक्येन स्थिति के अनुभव की नाम मात्र की अपेक्षा तो रहती ही है ॥२०॥

आत्मा विवेक्तुं बाह्यार्थे न शक्यो वृत्तिमिश्रणात्।
अतो वृत्तौ विवेक्तव्यो वृत्तिबोधतयैव सः ॥२१॥

बाह्य विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध एवं तदनुस्यूत निखिल वस्तुजात में वृत्तियों के मिश्रित रहने के हेतुवश सामान्यतः आत्मतत्व को अलग करके स्पष्ट नहीं किया जा सकता, इसलिए वृत्ति की बोधता के द्वारा ही उस आत्म तत्व को वृत्ति में से अलग करके समझना चाहिए ॥२१॥

यथा बुद्ध्या विवेकार्हो नाग्निरंगारमिश्रणात्।
सोऽङ्गारे तु विवेकार्हो काष्ठदग्धृतया स्फुटम् ॥२२॥

जैसे अंगार के लकड़ियों के साथ मिश्रित हो जाने के हेतुवश उसे बुद्धि के द्वारा काष्ठ से अलग करके समझा नहीं जा सकता; परन्तु वही अग्नि अंगार में तो स्पष्ट रूप से लकडियों को जलाने के सामर्थ्य से युक्त होने के हेतुवश

दाहकत्व विशिष्ट तत्व अग्नि है। इस तरह उसे अलग करके समझा जा सकता है ॥२२॥

अतएव श्रुतौ स्वप्ने दृश्यवृत्तिविवेकतः।
स्वयं ज्योतिःस्वरूपेण तस्या द्रष्टा प्रदर्शितः ॥२३॥

इसीलिए वेदों में आत्मा तत्व के विषय में बतताया गया है; कि—स्वप्नावस्था में निखिल दृश्याकाराकारित बुद्धिवृत्ति से पृथक् होने के हेतुवश एवं स्वयं प्रकाश स्वरूप होने की वजह से वह उस वृत्ति का द्रष्टा होता है।

अर्थात् वृहदारण्यकोपनिपद् आदि में आत्म तत्व को स्वयं ज्योति.स्वरूप बतलाया गया है। और स्पष्ट किया गया है; कि वह अपने स्वयं प्रकाश वाले स्वरूप के द्वारा ही वृत्तियों का द्रष्टा माना गया है। अन्यथा निर्गुण निर्विकार एवं निरिन्द्रिय में द्रष्टृत्व कैसा ? परन्तु जैसे नेत्रेन्द्रिय से हम विभिन्न विषयों के द्रष्टा तभी हो सकते हैं; जबकि प्रकाश में पड़ी हुई उन वस्तुओं के साथ नेत्रेन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है। वैसे ही आत्म तत्व को स्वयं ज्योतिःस्वरूप होने के हेतुवश वृत्तियों के द्रष्टृत्व के लिए प्रकाशान्तर की अपेक्षा नहीं होती। और स्वय सर्वथा निरिन्द्रिय होते हुए भी द्रष्टा होता है ॥२३॥

साक्षाम् प्रकाशो यो यस्य स तद्भिन्नो मतो बुधैः।
घटादिभ्यो यथाऽऽलोक आलोकाच्चापि वृतयः ॥२४॥

जो वस्तु जिस वस्तु से साक्षात् प्रकाशित होती है; वह प्रकाशित होने वाली वस्तु उस प्रकाशक वस्तु से सर्वथा भिन्न है; ऐसा विद्वानों द्वारा माना गया है। जैसे घट, पट, मठ इत्यादि निखिल वस्तुओं से उस प्रकाश को जो उन्हें प्रकाशित करता है; सर्वथा भिन्न ही माना जाता है। और उस समय में भी जो जिन-जिन विषयों के आकार को ग्रहण कर विपया-काराकारित कुछ चेतन तत्व में प्रतिबिम्बित होने वाली वृत्तियाँ होती हैं, वे भी सर्वथा उससे भिन्न ही समझी जाती हैं ॥२४॥

वृत्तेः साक्षत्त् प्रकाशत्वादतोऽनुभवरूपकः।
वृत्तिभ्यो भिन्न आत्मेति शीघ्रो मार्गः स्वदर्शने ॥२५॥

आत्मा के दर्शन करने में शीघ्र ही आत्मानुभूति करवा देने वाला मार्ग यह है कि—आत्मा वृत्तियों का साक्षात् प्रकाशक होने के हेतुवश वृत्तियों से सर्वथा भिन्न ही होता है। इसीलिए वह अनुभव स्वरूपात्मक माना गया है। और इस तरह बहुत आसानी से आत्मानुभव हो सकता है। इसीलिए इसे शीघ्रमार्ग बतलाया गया है ॥२५॥

एवमादिप्रकारेण बुद्धिसत्त्वप्रकाशतः ।
विलक्षणतया सिद्धश्चित्प्रकाशोऽस्य भासकः ॥२६॥

इस प्रकार से तथा इसी तरह के अन्य प्रकारों से भी सत्त्वगुण विशिष्ट बुद्धि तत्त्व के सत्त्वमय प्रकाश से इस प्रकाश को आभासित करने वाला होने की वजह से आत्म तत्त्व स्वरूपी चैतन्यात्मक प्रकाश सर्वथा विलक्षण है। यह तथ्य सिद्ध हो जाता है।

व्यास भाष्य में भी युक्ति पूर्वक बुद्धि तत्त्व एवं चेतन तत्त्व (पुरुष) इन दोनों तत्त्वों का भेद स्पष्ट किया गया है; कि—ज्ञाताज्ञात विषयत्वात् परिणामिनी हि बुद्धिः; सदा ज्ञातविषयत्वं तु पुरुषस्य—परार्था बुद्धिः संहत्यकारित्वात्, स्वार्थः पुरुष इति। सर्वार्थाध्यवसायकत्वात् त्रिगुणा बुद्धिस्त्रिगुणत्वादचेतनेति, गुणानां तूपद्रष्टा पुरुष इति (२/२०) इस तथ्य से पातञ्जलयोगदर्शन के द्वितीय पाद के बीसवें सूत्र को स्पष्ट करते हुए व्यास भाष्य में व्यास ने लिखा है; कि—बुद्धि तत्त्व के जो जो विषय आ जाते हैं, वे सुस्पष्टतया ज्ञात हो जाते हैं; किन्तु जो विषय उसके सम्पर्क से अलग रहते हैं, वे सर्वथा अज्ञात ही रहते हैं। इस तरह से कुछ विषयों का ज्ञान तो बुद्धि को हो जाता है; और कुछ विषयों का ज्ञान बुद्धि को नहीं होता है। और इस जानकारी में क्रमशः परिवर्तन परिवर्द्धन होता ही रहता है। इस तरह से सुस्पष्ट होता है, कि—बुद्धि तत्त्व रूपान्तरित होने वाला व परिणामी तत्त्व है। परन्तु इससे विपरीत पुरुष-तत्त्व सर्वथा, निर्विकार एवं स्वभावतः नित्य, शुद्ध, बुद्ध तथा मुक्त है। अतः बुद्ध होने के हेतुवश सभी विषय हमेशाँ ही उसके ज्ञात होते हैं। अर्थात् वह सर्वथा सभी विषयों को जानने वाला ही होता है।

बुद्धितत्त्व सत्त्वगुणविशिष्ट एवं रजोगुण तथा तमोगुण से भी युक्त होता है। क्योंकि इन गुणों का स्वभाव ही है; कि वे एक दूसरे के सहारे रहते हैं; एक दूसरे को दबाकर स्वयं उभरते हैं, और मिलकर के ही क्रिया सम्पन्न करते हैं। उनकी सम्पूर्ण वृत्तियों में वे सभी स्वल्पाधिक मात्रा में रहते ही है। अतः बुद्धि तत्त्व भी त्रिगुणात्मक तत्त्व है, और त्रिगुणात्मक होने से वह संहत्यकारी भी हुआ तथा इस तरह संहत्यकारी होने से ही वह परार्थ भी होता है। अर्थात् वह निर्गुण-चेतन तत्त्व के लिए होता है। किन्तु चेतन तत्त्व संहत्यकारी न होने के हेतुवश केवल अपने ही लिए है।

सभी विषयों का निश्चात्मक बोध करवाने वाली होने के हेतुवश बुद्धि त्रिगुणात्मिका हुई और त्रिगुणात्मिका होने के हेतुवश ही वह जड़ भी होती है।

किन्तु पुरुष तत्त्व तो गुणों का उपद्रष्टा चेतन तत्त्व ही है। इससे स्पष्ट है कि बुद्धितत्त्व के प्रकाश में तथा चिज्ज्योति (आत्म तत्त्व) के प्रकाश में सर्वथा पार्थक्य है ही ॥२६॥

स्वप्नदेहादिदृष्टान्तैस्तस्माच्छ्रुत्यादिदर्शितैः।
जाग्रद्देहेन्द्रियार्थेभ्यश्चितिर्भिन्नतया मता ॥२७॥

उसी वजह से वेद, पुराण, स्मृति आदि ग्रन्थों द्वारा बतलाये गये, स्वप्न में प्रतीत होने वाले शरीरादि के दृष्टान्तों द्वारा जगते हुए इन शरीर इन्द्रियों एवं इनके विषयों से चिति शक्ति (आत्मा) सर्वथा भिन्न है। ऐसा माना गया है।

अर्थात् जिस समय व्यक्ति स्वप्न देख रहा होता है, उस समय स्वप्न में मानो वह राजा बना हुआ है; तो उसे दिव्य देहीं होने का, दिव्य वस्त्राभूषण धारण किये होने का एवं सम्पूर्ण देश का अधिपति होन का अनुभव होता है। और यह निश्चित है; कि उस स्वप्न के समय में उसे थोड़ा सा भी यह भान नहीं होता है; कि—यह मेरा नृपत्व वास्तविक नहीं है। वह तो उस समय में तो सर्वांशत अपने आपको सुसम्पन्न राजा ही मानता है। किन्तु ज्योंही उसकी नींद खुलती है; तो वह स्वप्न का नृपत्व सर्वथा झूंठा था, मैं तो वही हूं; जो स्वप्न से पूर्व था। इत्यादि अनुभव स्वभावतः उसे हो जाते हैं। और वह पुनः स्वस्वरूपानुकूल व्यापारों में व्यापृत हो जाता है।

इसी तरह जाग्रद् अवस्था में जो यह शरीर, ये इन्द्रियाँ, और इनके द्वारा भोग्य शब्द. स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध स्वरूपात्मक सम्पूर्ण विषय हमें जब तक तत्त्व ज्ञान नहीं होता, तब तक वास्तविक ही हैं। ऐसा प्रतीत होता रहता है, किन्तु ज्योंही तत्त्वज्ञान हुआ, तो फिर केवल आत्मतत्त्व की अनुभूति हो जाती है। और इन सभी का स्वप्न की तरह मिथ्यात्व भी स्पष्ट हो जाता है ॥२७॥

स्वप्ने देहादिकं सर्वं चिद्भिन्नं चिति भासते।
जाग्रत्येवं विशेषस्तु यद् बाह्यमपि भासते ॥२८॥

आत्म ज्योति से पृथक् जो भी शरीर, इन्द्रियाँ और सम्पूर्ण विषयादि जो कुछ है वह सभी कुछ आत्मा में ही भासित होता है। परन्तु जाग्रद् अवस्था में यह विशेष बात है, कि—जो बाह्य शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्धात्मक विषय हैं; वे भी भासित होते हैं ॥२८॥

स्वप्ने मनोमयत्वाच्च साक्षाच्चिद्विषयोऽखिलम् ।
करणद्वारतो बाह्यं चितो जाग्रति गोचरः ॥२६॥

स्वप्न की स्थिति में सभी कुछ मनोमय होता है। और उसके सर्वथा मनोमय होने के हेतुवश ही सब कुछ साक्षात् आत्म-ज्योति का विषय बन जाता है। परन्तु जाग्रद् अवस्था में तो इन्द्रियों के माध्यम से बुद्धि में ; एवं बुद्धि के माध्यंम से प्रतिविम्व द्वारा आत्मा के समक्ष सम्पूर्ण वाह्य विषय समुपस्थित होते हैं। यही स्वप्नावस्था की अनुभूति एवं जाग्रद् अवस्था की अनुभूति में पार्थक्य है जो सर्वथा सुस्पष्ट है ॥२६॥

सर्वं देहादिकं स्वप्नजाग्रतोरेकरूपतः ।
भाति चिद्व्योम्नि नात्रार्थ बाह्यान्तर्भेदतो भिदा ॥३०॥

स्वप्नावस्था एवं जागृत रहने की स्थिति, इन दोनों ही स्थितियों में आत्मा नित्य, निर्विकार एवं परिणाम शून्य होने के हेतुवश हमेशाँ एक ही रूप में रहता है। इसलिए यह सब कुछ शरीर, इन्द्रियाँ एवं इनके विषयादि आत्म ज्योति में ही भासित होते रहते हैं। क्योंकि यहाँ इसमें बाह्य एवं आन्तरिक भेद से किसी भी तरह का भेद नहीं होता है ॥३०॥

चिद्व्योम्नि वासनातो धीः प्रमाणाद् वाऽर्थरूपिणी ।
ततश्चितोऽर्थभानं यत् तत् समं स्वप्नजाग्रतोः ॥३१॥

चैतन्याकाश में वासना के प्रभाव से अथवा शब्दप्रमाण, अनुमानप्रमाण या प्रत्यक्षप्रमाण के प्रभाव से जो विषयस्वरूपा बुद्धि समुपस्थित होती है। अर्थात् विषय के स्वरूप को ग्रहण करके विषयाकार से आकारित यानी विषय के आकार से स्वयं वैसे ही आकार वाली बन कर प्रतिविम्व रूप से चैतन्य में प्रतिविम्वित होती है। उसी से जो विषयों की प्रतीति होती है। वह चैतन्य में तो स्वप्नावस्था एवं जाग्रद्वस्था इन दोनों ही। स्थितियों में समानरूप से ही होती है ॥३१॥

तदिदं स्वानुभूत्यैव प्रोच्यते न परोक्षतः ।
स्वप्नदृष्टान्तसदृशो नोपायोऽस्त्यात्मदर्शने ॥३२॥

यह सब कुछ अपनी अनुभूति से ही वतलाया जा रहा है। अर्थात् स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव करके तदनुसार ही यह प्रतिपादन किया जाता है ; विना साक्षात्कार के नहीं। स्वप्न के दृष्टान्त के समान आत्मा के साक्षात्कार के विषय में और कोई भी उपाय नहीं है। अर्थात् जैसे स्वप्न के समय वह स्वप्न ही

सर्वथा सही लगता है। किन्तु स्वप्न के टूटने पर वह स्वप्न सर्वथा मिथ्या सिद्ध हो जाता है। उसी प्रकार से स्वप्नोपम संसार की स्थिति में आत्मविषयक बोध नहीं होने से सांसारिक सम्पूर्ण स्थितियां सही लगती हैं। किन्तु सर्वथा तत्त्व-ज्ञान हो जाने पर इसका मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है; तथा परम तत्त्व आत्मा ही त्रिकालाबाधित सत्य है। यह अनुभूति हो जाता है ॥३२॥

सुषुप्तौ हि यथा स्वप्ने स्वात्मन्येवेक्षतेऽखिलम् ।
आत्मानं चैकदेस्थं मन्यते जागरे तथा ॥३३॥

सुनिश्चित रूप से सुषुप्ति के समय में प्राणी जिस प्रकार से स्वप्न में सम्पूर्ण अनुभूतियां अपने अन्दर ही करता है। उसी प्रकार से सब कुछ अपने आप में ही देखता है; और वैसे ही जाग्रद् अवस्था में आत्मा को एक देश में स्थित मानता है अर्थात् सुषुप्ति में आत्मतत्त्व की परम व्यापकता की स्थिति हो जाती है; और उसे परमानन्द की अनुभूति होती है। चाहे लाखों का कर्जा हो या अन्यान्य किसी भी तरह की जीवात्मा-वच्छेदकत्वेन सांसारिक नैकविध वस्तुओं में स्वत्वानुभूति के हेतुवश अनेक प्रकार से होने वाले कष्टों में से कोई भी कष्ट क्यों न हो; सुषुप्ति की स्थिति में उनमें से किसी भी कष्ट का कथञ्चिदपि कोई भी उसे भान ही नहीं होता। उस समय तो सुख-दुःखात्यय की स्थिति वाला सच्चा सुख अनुभूत होने लगता है। किन्तु जगने पर पुनः उस आत्म तत्त्व की व्यापकता और आनन्दातिरेक की स्थिति से हटकर प्रकृति एवं प्राकृत सृष्टि में स्वत्वानुभूति करता हुआ, उनके रजोगुण के कारण उनके दुःख को अपना दुःख, और उनके ही सत्त्व गुण के कारण उनके ही सुख को अपना सुख तथा उनके ही तमोगुण के कारण उनके मोह को अपना मोह मानता हुआ अपने आपको एक शरीरस्थ मानने लगताहै ॥३३॥

सुषुप्तिरात्मनस्तत्त्वं स्वरूपावस्थितेस्तदा ।
जाग्रत्स्वप्नौ मायिकौ तु मृषा सारूप्यतो धिया ॥३४॥

जब सुषुप्ति होती है; तब आत्मा की अपने सही स्वरूप में स्थिति हो जाने के हेतुवश सुषुप्ति ही आत्मा की तात्त्विकी स्थिति है। अर्थात् वास्तविकता है। परन्तु जो कुछ स्वप्न में अनुभव होता है; तथा जो कुछ स्वप्न टूटने पर इस सांसारिक स्थिति में अनुभव होता है। ये दोनों ही अनुभव झूंठे हैं; ये माया से ही होने वाले हैं। क्योंकि बुद्धि के साथ में अपनी समान रूपता समझ लेने के कारण ही उस बुद्धि में होने वाले इन स्वप्नों एवं जागरणों की स्थिति में होने वाले सुख-दुःखादि में स्वत्वानुभूति करता हुआ सुख-सुःख-मोहाकाराकारित बुद्धि के

प्रतिविम्ब के प्रभाव से प्रतिबिम्ब को ही वास्तविक सा मानता हुआ सुख-दुःख एवं मोह की अनुभूति करता है ; जो झूंठी है ।।३४।।

बुद्धेःसुषुप्तिस्तमसाऽवरणं तद्विलक्षणा ।
चितेःसुषुप्तिवृ स्याख्यदृश्यावरणशून्यता ।।३५।।

बुद्धि की सुषुप्ति तो बुद्धि का तमोगुण से आवृत्त हो जाना ही होती है। परन्तु उस बुद्धि की सुषुप्ति से विलक्षण आत्मा की सुषुप्ति होती है। क्योंकि वृत्ति नाम से पुकारे जाने वाले निखिल दृश्य वर्ग के आवरण का आत्मा से सर्वथा हट जाना ही आत्मा की सुषुप्ति है ।।३५।।

पूर्णःकूटस्थनित्यश्च स्वस्वधीमात्रवृत्तिदृक् ।
वृत्त्याख्यदृश्यविरहात् सर्वदा नेक्षते पुमान् ।।३६।।

अपने आप में सर्वथा पूर्ण रहने वाला अर्थात् किसी भी प्रकार की कोई भी न्यूनता जिसमें नहीं होती है; वही आत्मा पुरुष है। और वह जैसा था वैसा ही है, एवं भविष्य में भी वैसा ही बना रहेगा। वह न कभी भी पैदा होता है, न कभी भी जवान होता है, और न कभी भी वृद्ध ही होता है; और न कभी भी मरता ही है। अतएव वह कूटस्थ नित्य कहलाता है।

प्रत्येक लिंगशरीर में भिन्न-भिन्न बुद्धियों की जो भिन्न-भिन्न वृत्तियां होती हैं। केवल उन्हीं को प्रतिविम्व के माध्यम से देखता है। इस प्रकार से हमेशाँ विषयाकाराकारित बुद्धिवृत्ति के प्रतिविम्व रूपी दृश्य के सर्वत्र सुलभ न होने के हेतुवश, द्रष्टा होने पर भी वह पुरुष तत्त्व हमेशाँ देखता नहीं है। अर्थात् सभी जीवात्मा केवल अपनी-अपनी बुद्धिवृत्ति से प्रतिविम्बित विषय को ही देख पाते हैं। सर्वदा सर्वत्र तो उसका अभाव होने के हेतुवश वह सब कुछ देख नहीं पाता ।।३६।।

वृत्तिदेशे यथा बोधस्तथा सर्वत्र सर्वदा ।
वृथैव तप्यते मूढ़ैर्व्ययनाशादिनाऽऽत्मनः ।।३७।।

बुद्धि के साथ स्वत्वानुभूति हो जाने के हेतुवश लिंग शरीरावच्छेदक रूप से रहने वाले आत्म तत्त्व को जैसे अपनी बुद्धिवृत्ति में उपस्थित शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध नाम से व्यवहृत निखिल विषयों की प्रतिविम्बन सामर्थ्य से अनुभूति होती है। वैसे ही स्वरूपावस्थिति की अनुभूति यदि आत्म तत्त्व को हो जाय; जो उसे हमेशाँ हर जगह हर वस्तु विषयक बोध हो जाता है।

किन्तु व्यर्थ में ही निखिल दृश्य जगत् में स्वत्वानुभूति कर लेने के कारण

त्रिगुणात्मक वस्तुओं के खर्च होने या रूपान्तरित होने की स्थितियों में अपनी वस्तु की ममता के हेतुवश अपने आपका व्यय या नाश होना मानकर व्यर्थ में ही अज्ञान जन्य आसक्ति के आवरण से आवृत्त मूढत्व को प्राप्त गये हो ऐसे लगते हुए जीवात्मा स्वभावतः, नित्य, शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त होते हुए भी दुःखी हो रहे हों ऐसा अनुभव होता है।

कहने का भाव यह है कि आत्मा स्वभावतः सर्वज्ञ हैं; और सर्वज्ञ ही था एवं सर्वज्ञ ही रहेगा यह त्रिकालावाधित सत्य है; कि कुछ भी उसका अज्ञात नहीं है, जिसके बोध हेतु बुद्धिवृत्ति का सहारा उसके लिए आवश्यक हो। किन्तु जब विषयाकाराकारित बुद्धिवृत्ति का प्रतिबिम्ब उसमें गिरता है, तथा वह केवल उसी प्रतिबिम्बत विषय का भोक्ता होता है; और बुद्धिवृत्ति के एकदेशीय होने के कारण वश आत्मा सार्वत्रिक सभी विषयों के प्रतिबिम्बों को ग्रहण नहीं कर पाता है। किन्तु जब स्वरूपाववोधात्मक तत्त्व ज्ञान हो जाता है। अर्थात् बुद्ध्यादि अनात्मतत्त्वों में जो झूठी ही स्वत्व की भावना थी; वह हट जाती है। तो फिर त्रिगुणात्मक तत्त्वों के (नाशादि) के प्रभाव से अपना व्यय (नाशादि) मानकर कभी भी दुःखी नहीं होता। पारमार्थिक स्थिति तो यह है; कि उसे कभी कोई कष्ट न था, न है, और न होगा ही ।।३७।।

दुःखभोगमहारोगनिदानं देहगेहिनी।
बुद्धिर्न त्यज्यते मूढैर्महानिद्रासुखं यतः ।।३८।।

"सर्वं दुःखं विवेकिनः" इत्यादि के अनुसार सुखदुःख मोहात्मक त्रिलोकी में हर वस्तु में रजोगुण की सत्ता स्वाभाविक रूप से रहती ही है। तथा जहाँ अप्रीत्यात्मक रजोगुण रहेगा, वहाँ दुःख न हो, ऐसा हो ही नहीं सकता। तत्त्व ज्ञानी को सच्चा सुख इन त्रिगुणात्मक वस्तुओं में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता है। अतः वह सर्वत्र स्वल्पाधिक मात्रा में दुःख युक्तता का अनुभव कर लेता है। क्योंकि योगी अक्षिपात्र कल्प माना जाता है। अर्थात् जैसे आँख में वारीक से वारीक भी कोई कण गिर जावे तो तत्काल पता लग जाता है। तथा उससे कष्टानुभूति हो जाती है। उसी प्रकार से दुःख की सूक्ष्म से सूक्ष्म स्थिति को भी योगी जान लेता है। और इसीलिए संसार में सुखमय वतलायी जाने वाली स्थितियों में भी उसे दुःख दीख जाता है।

ऐसे दुःखों के भोगों के स्वरूप में जो महारोग लगा हुआ है; इसका मूल कारण शरीर रूपी घर में रहने वाली गृहिणी (घरवाली) बुद्धि ही है। अज्ञान जन्य आसक्ति वश मूर्खों के द्वारा उसका परित्याग नहीं किया जाता है।

क्योंकि वे महा मोहमयी घोर नींद में सोये हुए है। अतः जब तक यह महा-निद्रा स्वरूपी भ्रामक सुखाभास उन्हें मिलता रहेगा। तब तक उनकी आसक्ति बनी ही रहेगी और वे कभी उसे छोड़ ही नहीं सकेंगे ॥३८॥

अनादिबुद्धिगार्हस्थ्यं विवेकस्त्यज्यते न चेत्।
न मोक्षो बाह्यसंन्यासादिहामुत्रासुखं परम् ॥३९॥

अनादि काल से चले आ रहे तथा बुद्धि स्वरूपिणी गृहिणी के साथ चल रहे, इस गार्हस्थ्य को यदि विवेकख्यात्यात्मक तत्त्व ज्ञान से नहीं छोड़ा जाता है; तो फिर बाह्य संन्यास ग्रहण कर लेने से मोक्ष नहीं हो सकता है। अर्थात् बुद्धि के प्रति जो ममता है, इसका परित्याग किये बिना तत्त्वज्ञान नहीं होगा। और "ऋते ज्ञानान्न मोक्षः" इस वचन के अनुसार बिना तत्त्वज्ञान के तो मोक्ष होगा ही नहीं। मोक्ष की बात तो दूर रही ; बुद्धि के साथ पुरुष के गार्हस्थ्य में तो इस लोक में और परलोक में उभयत्र जोरदार सबसे बढ़कर अर्थात् बड़े से बड़ा दुःख ही दुःख होगा। अतः संन्यास ग्रहण कर लेने मात्र से कोई मोक्षलाभ नहीं हो सकता ; मोक्ष लाभार्थ बुद्धि के प्रपञ्च से छुटकारा पा लेना परमावश्यक है ॥३९॥

समचिन्मात्ररूपेषु स्वपरात्मसु सर्वदा।
बुद्धिमात्रविवेकेन स्वपरादिभिदा मृषा ॥४०॥

सभी आत्म तत्त्व समान रूप से केवल चिज्ज्योतिःस्वरूप होते हैं। केवल बुद्धि मात्र के भेद से यह आत्मा मेरा है ; और यह आत्मा दूसरे का है। इस प्रकार से हमेशा अपने और दूसरों के आत्मतत्त्वों में भेद माना जाता है। किन्तु यह भेद केवल बुद्धि के साथ होने के कारण ही होता है। केवल बुद्धि से पृथक् आत्मावबोधात्मक विवेक ज्ञान हो जाने पर अपने पराये का भेद झूठा है यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता हैं ॥४०॥

चिन्मात्रे निर्गुणे स्वामिन्यारोप्यैवात्मकर्तृताम्।
स्वाम्यवज्ञापराधेन बध्यते धीः स्वकर्मभिः ॥४१॥

बुद्धि केवल चैतन्यस्वरूप सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण इन तीनों गुणों से तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण तत्त्वों से पृथक् तत्त्व निर्गुण आत्मा जो भोक्तृत्व एवं अधिष्ठातृत्व की दृष्टि से स्वामी होता है ; उसी में अपने निखिल कर्मों को सम्पन्न करने की प्रक्रिया को आरोपित करके स्वामी की अवज्ञा करने के अपराध से अपने ही कर्मों द्वारा बन्धन में पड़ती है।

आशय यह है ; कि—रजोगुण के विना क्रिया सम्पन्न नहीं होती, और रजोगुण भी सत्त्वगुण और तमोगुण के सहयोग के विना न कुछ कर सकता है ; और न रह ही सकता है। इसी तरह की सत्त्वगुण एवं तमोगुण की भी स्थिति है। अतः केवल आत्मज्योति निर्गुण पुरुष तत्त्व में किसी भी प्रकार का कर्तृत्व हो ही नहीं सकता। तथा सगुण व त्रिगुणात्मिका होने के हेतुवश बुद्धि द्वारा ही यह सब कुछ सम्पन्न होता है। तथापि चेतन तत्त्व (पुरुष) द्वारा ही सब कुछ हो रहा है। ऐसा माना जाता है ; और बुद्धि ही बन्धनों में बँधती है। तथापि आत्मा को बन्धन में पड़ा माना जाता है। आत्मा न कभी बन्धन में था, न है, और न हो ही सकता है। लिखा भी है "रूपैः सप्तभिरात्मा-नमात्मनैव बध्नाति प्रकृतिः" "नाद्धा बध्यते मुच्यते च कश्चित् बध्यते मुच्यते च केवलं नानाश्रया प्रकृतिः" इत्यादि वाक्यों द्वारा भी स्पष्ट किया गया है; कि—पारमार्थिक रूप से प्रकृति जो प्रथम बुद्धि तत्त्व के रूप में ही नैकधा बन्ध मोक्षादि से युक्त होती है। किन्तु औपचारिक रूप से योद्धाओं की जीत या हार जैसे उनके राजा में आरोपित होती है उसी प्रकार बन्ध मोक्ष भी चेतन तत्त्व में आरोपित होते हैं। पारमार्थिक रूप से तो आत्मा नित्यमुक्त ही होती है ॥४१॥

साध्वी बुद्धिः पतिं दृष्ट्वा याथातथ्येन तत्परा।
इहानन्दमयी चान्ते पतिदेहे लयं व्रजेत् ॥४२॥

किन्तु जो बुद्धि नैकविध श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि से विशुद्ध हो जाती है। वही साध्वी अपने पति आत्मा का सही स्वरूप में साक्षात्कार करके उसी के भोग मोक्ष की सिद्धि में अपना सम्पूर्ण क्रियाकलाप लगा देती है। उस आत्मा तत्त्व के अलावा अन्य किसी को भी विशिष्ट नहीं मानती। इस प्रकार आत्म तत्परा बुद्धि इस संसार में प्रारब्ध कर्मों की पूर्णता पर्यन्त जीवन्मुक्तावस्था में सर्वथा आनन्द सम्पन्न रहती है। और आखिर में परम्परया आत्मज्योति में ही लीन हो जाती है। अर्थात् सर्वथा मुक्त हो जाती है। विदेत कैवल्य की स्थिति को प्राप्त कर लेती है ॥४२॥

नाहं कर्ता सुखी चिन्मात्राकाशरूपकः।
एवं नाथं चिन्तयन्ती न पत्युर्दुःखभाग्दा ॥४३॥

मैं करने वाला नहीं हूं, मैं सुख भोगने वाला नहीं हूं, और मैं दुःख भोगने वाला भी नहीं हूं। मैं तो केवल आत्मज्योति चैतन्य तत्त्व चिन्मात्र स्वरूप वाला हूं। इस प्रकार से अपने स्वामी पुरुष तत्त्व के विषय में सोचती हुई बुद्धि अपने स्वामी आत्मा को कभी भी कोई भी दुःख का लेश मात्र भी देने

वाली नहीं होती है; अर्थात् जिसकी बुद्धि इस प्रकार का चिन्तन करती है। वही आत्मा स्वरूपावस्थित हो जाता है। और निर्गुण होने के हेतुवश उसके स्वरूप में तो दुःख का लेश भी नहीं रहता है। अतः बुद्धि एवं सम्पूर्ण प्रपञ्च में स्वत्व के कारण होने वाला इनका दुःखादि उसमें कभी नहीं हो सकता। आत्मा तो हमेशा ही स्वभावतः शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त, होने से पारमार्थिक रूप से सुख दुःखादि से सर्वथा असम्पृक्त होता ही है; किन्तु जो औपचारिक सुख-दुःखादि उसमें बतलाये जाते हैं; उनका भी बुद्धि में तत्त्वज्ञान हो जाने पर निराकरण हो जाता है ।।४३।।

इति श्रीविज्ञानभिक्षुविरचिते सांख्यसारे आत्मानात्मनोश्चिदचित्त्ववैधर्म्यं परिच्छेदः ।

इस प्रकार से आचार्य श्री विज्ञानभिक्षु द्वारा बनाये हुए सांख्यसार नामक ग्रन्थ में आत्म तत्त्व एवं अनात्म तत्त्वों में जो आत्मा में चित्त्व (चैतन्यता) और अनात्म तत्त्वों में अचित्त्व (जड़ता) स्वरूपी पारस्परिक भिन्नता को यानी पृथक् पृथक् वैशिष्टययुक्तता को स्पष्ट करने वाला उत्तर भाग का तीसरा परिच्छेद परिपूर्ण हुआ ।

———

चतुर्थः परिच्छेदः

इत्येवमात्मनः प्रोक्तो बुद्धयादिभ्यो विलक्षणः ।
चित्प्रकाशोऽधुनाऽऽनन्दरूपता वक्ष्यते यथा[1] ॥१॥

इस प्रकार से उपर्युक्त तृतीय परिच्छेद में बुद्धि इत्यादि तत्त्वों से सर्वथा विलक्षण आत्मा के चित् स्वरूपी प्रकाश का वर्णन किया गया है। अब इस आत्म तत्त्व की आनन्द रूपता जैसी-जैसी भी होती है वैसे वैसी ही इस चतुर्थ परिच्छेद में बतलायी जायगी। यहाँ पर आनन्दरूपता लिखने से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि सांख्य शास्त्र में भी आत्मा की आनन्दरूपता तो मानी जाती है; किन्तु वह बौद्धों के द्वारा मानी जाने वाली आनन्दस्वरूपता से भिन्न प्रकार की होती है। उसी को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—मोक्षरूप ही आत्मा का स्वस्वरूप है। और वह केवल शान्तिस्वरूप होता है। यही सांख्य शास्त्रियों की नीति है। आत्मा में बुद्धि तत्त्व में होने वाले सत्त्वगुणात्मक आनन्द की सत्ता नहीं, माननी चाहिए। शान्ति ही सुख है। इसीलिए शान्तिस्वरूप होने के हेतुवश आत्मा सुखात्मक है। सुख स्वरूप है। अर्थात् जिस चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियाँ शान्त हो गयी हैं; उस चित्त का सर्वथा उपद्रष्टा, कूटस्थ आत्मा ही होता है; ऐसा कहा जा सकता है। इसी दृष्टि से देवल का कथन भी युक्ति-युक्त ही हो जाता है। अर्थात् देवल के वचन की भी संगति बैठ जाती है—जैसाकि देवल ने कहा है कि—वह आत्म तत्त्व विवेकख्याति होने पर अर्थात् अपने स्वरूप का बोध हो जाने पर बुद्धयादि जड़वर्ग के साथ होने वाले स्वत्व की अनुभूति से हट जाने पर शुद्ध. गुणातीत व सर्वथा निर्गुण रह जाता है। और इसी वजह से उनके बन्धनों को अपना समझने के कारण से ही होने वाले सभी बन्धन कट जाते हैं; और उनके कट जाने पर स्वभावतः जन्म लेना, वृद्ध होना, और मृत्यु को प्राप्त कर लेना, इन दुःखों से बिलकुल मुक्त हो

---

१. मोक्षरूपमात्मस्वरूपंशान्त्यात्मकमिति सांख्यनयः, न तत्र बौद्धस्यानन्दस्य सत्ताऽभ्युपगन्तव्या। शान्तिरेव सुखमिति कृत्वा सुखात्मक आत्मा (शान्तवृतिकस्य चितस्य उपद्रष्टा कूटस्थ आत्मा) इति कथयितुं शक्यते। अनया दृशैव देवलोक्तिःसंगच्छते—स तथा निवृत्तो निर्गुणः छिन्नबन्धो जन्मजरामरणदुःखविनिर्मुक्तः सत्त्वादिहीन. तन्मात्रावास्थितः परमसुखमैकान्तिकमधिगच्छतीति सांख्यम्।

जाता है। अर्थात् पारमार्थिक रूप से मुक्त है ही; फिर भी जो औपचारिक रूप से उसमें जन्म, जरा एवं मरण का आरोप किया जाता है। उससे भी मुक्त हो जाता है। सत्त्वादि से सर्वथा रहित केवल स्वस्वरूप मात्र में स्थित सर्वोत्कृष्ट सुख को प्राप्त होता है। जो एकमात्र सुख ही सुख होता है। जैसे सत्त्वगुण के सुख के साथ रजोगुण का कुछ न कुछ दुःख एवं तमोगुण का कुछ न कुछ मोह अवश्य होता ही है; वैसे उस परम सुख में दुःख और मोह का लेश भी नहीं रहता। क्योंकि गुणों की स्थिति तो हमेशाँ अन्योऽन्याश्रयात्मक होती ही है। अतः विना रजोगुण और विना तमोगुण के अकेला सत्त्वगुण तो टिक ही नहीं सकता है भले ही वह ९९·९९ प्रतिशत ही क्यों न हो जावे। परन्तु ०·१ प्रतिशत ही सही उस स्थिति में भी कुछ न कुछ तो दुःख और मोह अवश्य होते ही हैं। किन्तु आत्मा के आनन्द में तो लेशमात्र भी दुःख या मोह जैसा कुछ भी नहीं होता है। क्योंकि वह गुणातीतावस्था की वजह से होता है। और जहाँ सत्त्वगुण का भी सम्पर्क नहीं तो फिर उसके सहास्तित्व वाले रजोगुण और तमोगुणों की स्थिति का कोई प्रश्न ही नहीं। और जब गुण हैं ही नहीं; तो फिर उनसे होने वाले सुख, दुःख एवं मोह हो ही कैसे सकते हैं। इस आत्म सुख को ऐकान्तिक सुख बतलाया गया है। ऐसे ऐकान्तिक सुख को आत्मा प्राप्त कर लेता है। यही साँख्य सिद्धान्त है ॥१॥

दुःखं कामसुखापेक्षा सुखं दुःखसुखात्ययः।
इति स्मृते सुखात्मत्वं नित्यनिर्दुःखताऽऽत्मनः ॥२॥

"काम्यते सोऽयं कामः" इस व्युत्पत्ति के द्वारा काम का तात्पर्य यहाँ हर प्रकार से चाहा जाने वाला जो सांसारिक सुख है; उसकी इच्छा रखना ही वास्तव में दुःख है। क्योंकि सामान्यतः संसार में सभी प्राणी जो जो सुख चाहते हैं; वे उन उन सुखों को प्राप्त करने में अपना सारा-सारा जीवन लगा देते हैं; तथापि उन्हें प्राप्त करने में प्रायः असफल ही रहते हैं। यदि कदाचित् कोई पूर्णतः साफल्य समधिगत कर भी लेते हैं; तो भी उस काम सुख की प्राप्ति पर्य्यन्त तो उसकी प्राप्ति के प्रयासों में दुःखी रहते हैं। और जिस समय प्राप्त कर लेते है; उस समय भी दुःखी रहते हैं। क्योंकि ये सुखाविषय के कारण सुख भले ही कहलायें. किन्तु इनमें भी रजोगुण और तमोगुण की भी आंशिक स्थिति होती ही है। और जहाँ रजोगुण रहेगा, वहाँ तो दुःख जरूर होगा ही। क्योंकि रजोगुण तो स्वयं दुःख स्वरूप ही होता है। इसके अलावा इन सांसारिक सुखों के लिए प्रत्याशी अन्य भी बहुत से व्यक्ति होते ही हैं। और उन्हें इन सभी स्वप्सित सुखों की उपलब्धि नहीं हो सकने के हेतुवश दुःख होना स्वाभाविक ही है। और अपने सुख प्राप्त कर लेने के कारण वश

उन्हें सुख नहीं मिलने से प्राणियों को दुःखी पाकर सुख को पाकर उसके भोक्ता व्यक्ति को भी दुःख होता ही है। इस तरह काम सुख की तो ईच्छा करना भी दुःखी ही है। क्योंकि ईच्छा भी करेंगे और नहीं मिलेगा तो उसके नहीं मिल सकने तक दुःख ही दुःख होगा। प्राप्त हो जाने पर भी रजोगुण मिश्रित होने के हेतुवश दुःख होगा ही। और फिर न जाने किस क्षण यह वापिस छिन जायगा इस अभिनिवेश से भी बरावर दुःख ही होता है। इसी लिए इस प्रकार के त्रिगुणात्मक सुख दुःखों का हमेशाँ के लिए छूट जाना ही सच्चे माने में सुख है। इसी स्मृति वचन के हेतुवश आत्मा की हमेशाँ के लिए दुःख शून्यता और सुख स्वरूपता मानी गयी है। अर्थात् आत्मा तो नित्य, शुद्ध, वुद्ध और स्वभावतः मुक्त होता है। अतः वह गुणातीत है; और गुणातीत होने के हेतुवश ही सांसारिक सुख-दुःख शून्य है एवं सच्चे सुख से सर्वथा परिपूर्ण है ॥२॥

परिभाषाबलाद् रुढ़िवाधः सर्वत्र सम्मतः।
अन्यथा परिभाषेयं मोक्षशास्त्रे भवेद्वृथा ॥३॥

परिभाषा की शक्ति से रुढ़ि की वाधा सभी जगह सभी के द्वारा मानी गयी है। अन्यथा यदि ऐसा न माना गया होता; तो फिर यह परिभाषा मोक्ष प्रतिपादक शास्त्र में व्यर्थ ही हो जाय।

परिभाषा का मतलव है; जो जिसके व्यवहार में प्रयुक्त होने के लिए आधुनिक सङ्केत निश्चित किया गया हो। वही उसकी परिभाषा कहलाती लिखा भी है कि 'सावकाशनिरवकाशयोर्निरवकाशविधेर्वलीयस्त्यान्निरवकाश। परिभाषा वलीयसी" इस परिभाषा के अनुसार रुढ़ि के सावकाश होने के हेतुवश और परिभाषा के निरवकाश होने के कारण रुढ़ि की अपेक्षा परिभाषा ही शक्तिशालिनी मानी जायगी। अतः परिभाषा के द्वारा जो यहाँ रुढ़ि का वाध वतलाया गया है. वह सर्वथा युक्तियुक्त ही है ॥३॥

यद्वा परोक्षवादेन परमप्रियताऽऽप्तये।
रूपिका सुखगीः पुंसि विभुत्वाप्त्यैखशब्दवत् ॥४॥

अथवा जो पुरुष तत्त्व में सुख-दुःखातीतावस्थापन्न होते हुए भी सुखस्वरूपता आनन्दमयता का आरोप किया जाता है। वह केवल जिन लोगों की सुख प्राप्ति में आसक्ति रहती है; उन लोगों की भी आत्म तत्त्व में सर्वाधिक प्रीति हो; इसीलिए किया जाता है। जैसे आत्म तत्त्व ब्रह्म की व्यापकता समझाने के लिए आकाशत्व का आरोप ब्रह्म में किया जाता है; और जैसे आह्लादकता की निरतिशयता वतलाने के लिए मुख में चन्द्रत्व का आरोप किया जाता है।

उसी प्रकार से पुरुष तत्त्व में सुख बतलाना भी आरोप का ही प्रतिपादक है। तात्पर्य यह है कि पारमार्थिक रूप से पुरुष तत्त्व तो सर्वथा निर्धर्मक, निर्गुण, निराकार, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, केवल, नित्य निरञ्जन तत्त्व मात्र है। उसमें सुखदुःखादि कुछ नहीं होते हैं ; तथापि स्वभावतः सुख में समधिक समभिरुचि रखने वाला प्राणिवर्ग भी आत्म तत्त्व की ओर समाकृष्ट होकर अपने उद्धार के लिए यत्नशील हो सके ; एतदर्थ आनन्दमयता का आरोप पुरुष तत्त्व में किया जाता है। वस्तुतः वह आनन्दमय होता नहीं है। वह नित्य एकरस ही रहता है ॥४॥

नानन्दं न निरानन्दमित्यादिश्रुतिभिःस्फूटम् ।
आत्मन्यन दन्ऽपत्वघषदोानि युक्तिसंयुतात् ॥५॥

महोपनिषद् के नानन्दं न निरानन्दमित्यादि मन्त्र के (५/१८) द्वारा सुस्पष्ट रूप से आत्मा की आनन्दस्वरूपता के निषेध करने के हेतुवश आत्मा आनन्दस्वरूप नहीं है। ऐसा मानना ही युक्तियुक्त होने के कारणवश ही न्यायदर्शन के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के बाइसवें सूत्र के भाष्य में मोक्षावस्था में जो आत्मा की सुखस्वरूपता बतलायी जाती है। उसका खण्डन किया गया है। इसी तरह योगसारसंग्रह के अन्त में भी नित्यानन्द की प्राप्ति स्वरूपी मोक्ष के स्वरूप का श्रीविज्ञानभिक्षु के द्वारा ही खण्डन किया गया है। वृत्तिकार भोज ने भी अपने भोजवृत्ति नामक ग्रंथ के अन्त में नित्यानन्द की प्राप्ति स्वरूपी मोक्ष के स्वरूप का खण्डन किया है।

अतः यह सुस्पष्ट है कि चेतन तत्त्व में पारमार्थिक रूप से आनन्दस्वरूपता नहीं होती है ॥५॥

उपासाद्यर्थशून्यत्वान्नेति नेति श्रुतेस्तथा ।
निषेधवाक्यं बलवद् विधिवाक्यादिति स्थितिः ॥६॥

आत्मा में आनन्द की अभावस्वरूपता उपासना आदि के लिए कल्पित की जाती है ऐसा भी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि उपासनादि निखिल प्रयोजन शून्यता उसमें प्रतिपादित की जाने के हेतुवश ऐसा कथन युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। वैसे ही बृहदारण्यकोपनिषद् (२/३/६) में नेति नेति के द्वारा इन सबका निषेध प्रतिपादित किया गया है। और भावबोधक विधिवाक्य की तो अन्यथा भी संगति लगायी जा सकती है। किन्तु निषेध वाक्य तो अभाव का बोधक होने के कारणवश उसकी संगति अन्यथा नहीं लगायी जा सकती। इसलिए विधिवाक्य की अपेक्षा निषेध वाक्य को ही शक्तिशाली माना जाना स्वाभाविक है। और यही स्थिति वास्तविक भी है क्योंकि यहां निषेध वाक्य की बलवत्ता मानना ही सर्वाभिप्रेत है ॥६॥

निर्निरानन्दमिति च स्वोपाध्यानन्दभोक्तृताम् ।
स्वामित्वरूपिणीं वक्ति न निर्धन इतीव हि ॥७॥

जैसे न "निर्धन" यह निर्धन नहीं है; इस प्रयोग से धन के अभाव का अभाव ही नहीं बतलाया जाता है; अपितु केवल धन स्वामिता ही बतलायी जाती है। इसी प्रकार से निर्निरानन्दत्व का प्रतिपादन करने वाली श्रुति से भी आत्मा में अपनी उपाधिभूत बुद्धि आदि में रहने वाले आनन्द की स्वामित्व स्वरूपिणी भोक्तृता ही बतलायी जाती है; किन्तु आनन्द का अभाव नहीं बतलाया जाता अर्थात् सर्वथा आनन्दयुक्तता नहीं बतलायी जाती।

भाव यह है कि आत्मा में जो आनंदयुक्तता या आनन्दमयता आनन्द-स्वरूपतादि बतलायी गयी है। वह पारमार्थिक रूप में आत्मा में आनन्द की स्थिति का प्रतिपादन है; अपितु वह केवल औपाधिक रूप से बुद्धायदि गत आनंद का ही आत्मा में आरोप करके समझाया गया है। पारमार्थिक रूप से तो आत्मा सर्वथा निर्द्वन्द्व है ही अतः उसकी आनन्दमयता युक्तियुक्त नहीं हो सकती ॥७॥

प्रेयोऽन्यस्माच्च सर्वस्मादितिश्रुत्या सुखादपि ।
उक्त आत्मा प्रियस्तस्य सुखत्वोक्तिश्च नोचिता ॥८॥

आत्म तत्त्व अन्य सभी तत्त्वों से समधिक रूप से प्रिय होता है। इसीलिए इसे दृष्टतम तत्त्व कहा जाता है। और इसी वजह से वृहदारण्यकोपनिषद् (४/५/६) द्वारा सुख से भी आत्मा को प्रिय बतलाया गया है। इसलिए उसी आत्मा का सुखत्व आनंदमयत्व बतलाया जाना सर्वथा उचित नहीं है। अर्थात् जो सुख से भी अधिक प्रिय बतलाया गया हैं। वह स्वयं सुख कैसे हो सकता है। क्योंकि इस प्रतिपादन द्वारा सुख से पृथक स्वरूपता उसकी सुस्पष्ट हो जाती है। ऐसी स्थिति में सुख से सर्वथा पृथक् होते हुए भी वही स्वयं सुखस्वरूप है; ऐसा कथञ्चिदपि माना नहीं जा सकता ॥८॥

आनन्दाधाः प्रधानस्य इति वेदान्तसूत्रतः ।
वेदान्तेऽपि न सिद्धान्त आत्मनः सुखरूपता ॥९॥

"आनन्दाधाः प्रधानस्य" (३/३/११) इस वेदान्त सूत्र के अनुसार आनन्द आदि प्रकृति के ही होते हैं। अतः वेदान्त दर्शन में भी आत्मा की सुखस्वरूपता मानने का कोई सिद्धान्त नहीं है ॥९॥

विस्तराद् ब्रह्ममीमांसाभाष्येऽस्माभिः परीक्षितम् ।
चितेरसुखरूपत्वं प्रेमा व्याख्यायतेऽधुना ॥१०॥

आत्मा की सुखस्वरूपता नहीं होती है। इस तथ्य का सुपरीक्षण

सुविस्तारपूर्वक ब्रह्ममीमांसा के विज्ञानमृत भाष्य में हमने किया है। अब यहाँ प्रेम की व्याख्या की जाती है ॥१०॥

मान भूवमहं शश्वद् भूयासमितिरूपकः।
निर्मिभित्तोऽनुरागो यः स प्रेमा परमश्चितिः ॥११॥

ऐसा न हो कि मैं न रहूं ; मैं हमेशाँ लगातार बना रहूं। इस प्रकार जो अपने आपके प्रति स्वाभाविक रूप से अनुराग होता है। वही आत्मज्योति में रहने वाला सर्वोत्कृष्ट प्रेम है ॥११॥

अन्याशेषतया बुद्धेः स्नेहोऽयं न सुखेष्वपि।
अतः प्रियतमः स्वात्मानान्योऽतो ह्यधिकः प्रियः ॥१२॥

दूसरों पर निर्भर नहीं करने के हेतुवश ऐसा नहीं कि मैं न रहूं। अर्थात् मेरी स्थिति सुनिश्चित रूप से सर्वदा सर्वथा बनी रहे। इस प्रकार की अपने आपके प्रति आशीर्वादात्मक शुभकामनामय जो स्नेह होता है ; वह अर्थात् वैसा सर्वोत्कृष्ट स्नेह सुखों में पर भी नहीं होता। क्योंकि हर व्यक्ति यही चाहता है; कि मुझे सुख प्राप्त हो। संसार में कोई भी ऐसा नहीं चाहता है एवं यह नहीं कहता है—कि मैं स्वय सुखस्वरूप हो जाऊँ। इससे यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि आत्मा स्वयं आनन्दमय नहीं होता है। इसलिए बुद्धि का सबसे अधिक प्रिय जिससे अधिक कोई प्रिय होता ही नहीं है; उस बुद्धि का प्रतिसंवेदी आत्मा। इससे अधिक प्रिय और कोई भी तत्त्व कथञ्चिदपि कभी भी होता ही नहीं है ॥१२॥

आत्मत्वेनात्मनि प्रेमा न सुखत्वाद्यपेक्षते।
अहं स्यामिति चेद् यस्मात् सुखं स्यामिति नेष्यते ॥१३॥

आत्मा पर जो बुद्धि का सर्वथा सर्वातीशायी सर्वोत्कृष्ट सर्वश्रेष्ठ सर्वाधिक प्रेम होता है। वह यदि सुखता का प्रयोजक हो तो "मैं सुखस्वरूप हो जाऊँ" ऐसी कामना की जाय ; किंतु ऐसा होना नहीं है। अतः यह सुस्पष्ट है कि आत्मा पर जो अनन्य प्रेम है। वह आत्मत्वेन ही है ; सुखत्व आदि की वह अपेक्षा नहीं रखता। क्योंकि आत्माशी में हर व्यक्ति यही चाहता है ; कि मैं स्थित रहूं। सर्वथा सर्वदा "मेरी स्थिति बनी रहे" यही चाहता है। मैं सुखात्मक हो जाऊँ ऐसा कभी किसी के द्वारा भी नहीं चाहा जाता है ॥१३॥

तथा च सुखतादुःखाभावते वाऽऽत्मतापि वा।
प्रेम्णि प्रयोजिका सिद्धा स्वतःप्रेमात्मतैव तु ॥१४॥

और वैसे ही सुखता, दुःखाभावता, अथवा स्वयं आत्मता भी प्रेम में

लगाने वाली सिद्ध हो जाती है। किंतु स्वाभाविक रूप से प्रेम स्वरूपता प्रेम में लगाने वाली सिद्ध होती है ॥१४॥

तस्माद् वस्तुत आत्मैव प्रियो नौपाधिकत्वतः।
औपाधिकीतरप्रीतिरस्थिरत्वात्वान्न तात्त्विकी ॥१५॥

इसलिए यह सुस्पष्ट है; कि वास्तविक रूप से आत्मा ही प्रिय वस्तुतत्त्व है। आत्मा की प्रियता औपाधिकी नहीं होती है। आत्मातिरिक्त तत्त्वों पर जो प्रेम होता है; वही औपाधिक होता है। इसलिए आत्मातिरिक्त तत्त्वों पर होने वाली प्रीति में अस्थिरता होती है; और अस्थिरतायुक्त होने के हेतुवश ही वह अवास्तविक भी होती है ॥१५॥

प्रीतिरन्यत्र चानित्याऽविवेकाद्यैः सुखादिषु।
आत्मप्रीतिस्तु नित्याऽतो नित्यानन्दः पुमान् मतः ॥१६॥

आत्मातिरिक्त निखिल पदार्थों पर जो स्नेहभाव होता है। वह अविवेक आदि के द्वारा सुख आदि पर जो प्रेम होता है; वह अनित्य होता है। किन्तु आत्मा पर होने वाला प्रेम तो सर्वथा नित्य है। इसीलिए आत्मा को नित्यानन्द माना गया है ॥१६॥

आत्मनः प्रियतां बुद्धिर्यदि पश्येत् समाहिता।
सर्वातिशायिनीं तर्हि सुखाब्धौ किं न मज्जति ॥१७॥

सबसे विशिष्ट आत्मा की प्रियता को यदि एकाग्र होकर बुद्धि देखे; तब वह सुखरूपी समुद्र में क्यों न सरोवोर हो जाये; क्यों न सुख समुद्र में डूब जाय? अर्थात् आत्मा के सर्वाधिक प्रिय होने के कारण ही बुद्धि पुरुषख्याति को पाकर गुणों से विरक्त हो जाती है। गुणों से विरक्त हो जाने के हेतुवश ही पुरुष का आलम्बन लेकर स्थिर हो जाती है। इसीलिए आत्मा के ज्ञान स्वरूपी प्रकाश से युक्त रहने वाले योगी का मन वाह्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध इन सभी विषयों से शून्य हो जाता है। इस विषय में महाभारत के शान्तिपर्वस्थ २०५ वें अध्याय का दशवां श्लोक है कि यदा कर्मगुणैर्हीना बुद्धिर्मनसि वर्त्तते"। तदा प्रज्ञायते ब्रह्म ध्यानयोगसमाधिना।" अर्थात् जब कर्मों एवं गुणों से रहित ही बुद्धि तत्त्व मन में स्थिर हो जाता है; तभी ध्यानयोगसमाधि द्वारा ब्रह्म को सर्वांशतः जाना जाता है। इसी तरह महाभारत के ही शान्तिपर्व में लिखा है कि—

यदा निर्गुणमाप्नोति ध्यानं मनसि पूर्वजम्।
तदा प्रज्ञायते ब्रह्म निकषं निकषे यथा ॥ (शान्ति. २०५/१२)

यच्छेद्वाङ्मनसी बुद्धया य इच्छेज् ज्ञानमुत्तमम् ।
ज्ञानेन यच्छेदात्मानं य इच्छेच्छान्तिमात्मनः ।।

(शान्ति. २३६/४-५)

अन्तरात्मनि संलीय मनः षष्ठानि मेधया ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थांश्च बहुचिन्त्यमचिन्तयन् ।।

ध्यानेनोपरमं कृत्वा विद्यासम्पादितं मनः ।
अनीश्वरः प्रसन्नात्मा ततोऽर्च्छत्यमृतं पदम् ।।

(शान्ति २४६/६-७)

परन्तु जब साधक सबसे आदिकारण निर्गुण ध्येय तत्त्व को ध्यान द्वारा अन्तःकरण में प्राप्त कर लेता है। तब कसौटी पर कसे हुए स्वर्ण की तरह उसे ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। अर्थात् जैसे सोने की पूर्णतः जानकारी कसौटी पर कसने पर ही ज्ञात हो सकती है ; वैसे ही आत्म तत्त्व का ध्यान रूपी कसौटी पर अन्तःकरण में याथातथ्येन बोध कर लेने पर ही उस पर आरोपित इस स्वरूप का परित्याग एवं उसके सही स्वरूप का बोध हो जाता है। (शान्तिपर्व २०५/१२)

जो उत्तमज्ञान प्राप्त करना चाहता है, उसे बुद्धि के द्वारा मन और वाणी को जीतना चाहिए तथा जो अपने लिए शांति चाहे, उसे ज्ञान द्वारा बुद्धि को परमात्मा में नियन्त्रित करना चाहिए। (शान्तिपर्व २३६/४-५)

योगी बुद्धि के द्वारा मन सहित इन्द्रियों और उनके विषयों को अन्तरात्मा में लीन करके नाना प्रकार के चिन्तनीय विषयों का चिन्तन करता हुआ जब विवेक द्वारा विशुद्ध किये हुए मन को ध्यान के द्वारा सब ओर से पूर्णतया शान्त करक अपने आपको कुछ भी कर सकने में असमर्थ बना लेता है अर्थात् वह कर्तृत्व के अभिमान से सर्वथा शून्य हो जाता है। तब उसका मन सर्वथा अविचलित एवं सुस्थिर होकर सर्वोत्कृष्ट शांति को प्राप्त कर लेता है। और इस तरह वह क्रमशः अमृतस्वरूप परमज्योति परमात्मा को पा लेता है।

(शांतिपर्व २४६/६-७)

कूटस्थस्येश्वरस्यान्यो नास्ति प्रेरक इत्यतः ।
ईश्वरस्यावधित्वेन द्रष्टा वै परमेश्वरः ॥१८॥

कूटस्थ सदा सर्वदा एकरस रहने वाले ईश्वर का अन्य कोई प्रेरणा देने वाला नहीं होता है। इसीलिए निखिल तत्त्वों के तत्त्वमात्र के सर्वथा

ईश्वरावधिक होने के हेतुवश ही उसका द्रष्टा तो केवल एकमात्र परमात्मा ही होता है ॥१७॥

अन्यस्यागन्तुकैश्वर्यं बहुव्यापारसङ्कुलम् ।
निर्व्यापारस्य निर्दोषमनाद्यैश्वर्यमात्मनः ॥१९॥

बुद्धयादि आत्मातिरिक्त तत्त्वों में आने वाला ऐश्वर्य नैकविध बहुत से व्यापारों से युक्त होता है। अतः सदोष है। किंतु आत्मा में रहने वाला ऐश्वर्य ही अनादि काल से होता है; और उसके निर्व्यापार होने के हेतुवश वह सर्वथा दोषशून्य एवं सुस्थायी है। भाव यह है कि जो ऐश्वर्य आगन्तुक होता है; वह सुनिश्चित रूप से नश्वर ही होता है। और जो स्वाभाविक रूप से अनादिकाल से रहता है; वह अनन्त काल तक ही रहता है। और इसीलिए वह स्थायी होता है जहां अनेक व्यापार किये जाते हैं; वहां दोष होते ही हैं। किन्तु जहां व्यापार की अपेक्षा ही नहीं हो तो वहाँ उसमें दोष कहां से हो सकते हैं।

इस तरह आत्मा का ऐश्वर्य ही अनादि अनन्त एवं सर्वथा निर्दोष है ॥१९॥

आत्मार्थत्वेन सर्वत्र प्रीतिरात्मा स्वतः प्रियः ।
इतिशश्वच्छ्रुतिः प्राह आत्मदृष्टिविधित्सया ॥२०॥

आत्मा के लिए उपयोगी होने की दृष्टि से ही सभी वस्तुओं एवं सभी तत्त्वों पर अनुराग होता है। अर्थात् आत्मा के भोग मोक्ष की सिद्धि के लिए जिन-२ अन्यान्य वस्तुओं तथा तत्त्वों का प्रयोग होता है। उन्हीं वस्तुओं का तत्त्वों पर अनुराग होता है। किंतु आत्मा पर जो अनन्य होता है वह स्वाभाविक अपने आप साक्षात् होता है। यही तथ्य बृहदारण्यकोपनिषद् (४/५/६) में और सुस्पष्ट किया गया है। श्रुति ने भी ऐसा प्रतिपादन केवल आत्मा को साक्षात्कार करवाने के लिए ही किया है।

वेद में जहां कहीं भी आत्मा की सुखस्वरूपता बतलायी गयी है। वहां केवल आत्मा का साक्षात्कार करवाने के लिए आत्म तत्त्व की स्तुति की गयी है। पारमार्थिक रूप से तो आत्मा की सुखस्वरूपता का प्रतिपादन नहीं किया गया है। यही भाव है ॥२०॥

ततोऽप्यनुपमं ज्ञेयं प्रियात्मेक्षणतः सुखम् ।
भुञ्जते तत् सुखं धीरा जीवन्मुक्ता महाधियः ॥२१॥

जिस सुख को किसी अन्य सुख की उपमा नहीं दी जा सकती हो तो वह परम प्रिय सुख आत्मा के साक्षात्कार से होता है वही ऐसा सर्वसुखातिशायी,

सर्वोत्कृष्ट, परम सुख है। उसी सुख को वहुत बड़े बुद्धिमान्, पूर्ण धैर्य रखने वाले, जीवन्मुक्तावस्थापन्न तत्त्व ज्ञानी लोग ही भोगते हैं। अर्थात् तत्त्वज्ञान के विना वह सुख सर्वथा असुलभ है। याने गूंगा व्यक्ति जिस प्रकार आस्वादन के आनंद को लेता तो है किंतु कह नहीं सकता कि वह कैसा और क्या आनन्द उसे किस रस का हो रहा है वैसे ही जीवन्मुक्त व्यक्ति भी आत्म साक्षात्कार के अलौकिक आनंद को प्राप्त कर लेते हैं। किंतु वह सुख दूसरे किस सुख जैसा उन्हें मिल रहा है यह वतला नहीं सकते क्योंकि वैसा आनंद अन्यत्र कभी किसी को किसी भी वस्तु से मिलता ही नहीं है। अर्थात् उन्हें प्राप्त होने वाला वह आनन्द सर्वथा अनुपमेय होता है ॥२१॥

अन्तरात्मसुखं सत्यम् अविसंवादि योगिनाम् ।
अपश्यन् कृपणो वाह्य—सुखार्थी वञ्चितो जनः ॥२२॥

योगियों को प्राप्त होने वाला जो अन्य किसी भी सुख से मिलता जुलता नहीं होता ऐसे अन्तरात्मा में होने वाले सच्चे सुख को नहीं देखते हुए अर्थात् ऐसे परम् सुखकी ओर ध्यान नहीं देते हुऐ अतितुच्छ सामान्य वाह्य सुख को ही चाहने वाले तो सचमुच दयनीय ही हैं, वे व्यक्ति तो वस्तुतः अपन आप से ही ठगे जा रहे हैं। अर्थात् जैसे कोई व्यक्ति मणि और कांच में से मणि को देखता ही नहीं और कांच ही को सव कुछ या मणि से भी श्रेष्ठतम समझ कर चाहने लगता है। तो ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति वास्तव में केवल वाह्य चाक चक्य के चक्कर में पड़कर अमूल्य अमूल्य मणि को खोकर थोथे शीशे को पाकर वाद में लगातार दु खी ही होता रहता है। उसी प्रकार सांसारिक विषय वासना के चाकचक्य के चक्कर में पड़ा हुआ प्राणी, योगियों को प्राप्त हो रहे उस सच्चे सुख की ओर देखता ही नहीं; और इसी सांसारिक नैकविधविषयभोगात्मक सुख को ही चाहता रहता है। तो वह वास्तव में अपने आपके द्वारा अपने आप स्वय ही ठगा जाता है। याने वह धोखे में ही रहता है। और वास्तविकता से कोसों दूर भटकता रहता है ॥२२॥

सुखाशया बहिः पश्यन् देही हीन्द्रियरन्ध्रकैः ।
वातायनैर्गृहीत्वाऽन्तः—सुखं वेत्ति न बाह्यदृक् ॥२३॥

सुनिश्चित रूप से इन्द्रियों के छिद्र रूपी झरोखों के द्वारा सुख की आशा से वाहर देखता हुआ शरीराभिमान-सम्पन्न जीवात्मा अपने भीतर ही स्वाभाविक रूप से प्राप्त परम सुख को पाकर भी उसकी ओर उसका ध्यान नहीं होने के हेतुवश उसे देख नहीं पाता; क्योंकि उसकी दृष्टि तो इन्द्रियों के द्वारा भोग्य वाह्य विषयों पर ही लगी रहती है। अर्थात् जैसे घर में सब कुछ

होते हुए भी यदि कोई देखता ही नहीं और झरोखों में से बाहर ही देखता रहता है तो उसे कभी भी घर में स्थित कुछ भी नहीं दीखेगा और वह सर्वोत्कृष्ट वस्तु के घर में रहने पर भी अन्य सामान्य एव सामान्यतर व सामान्यतम वस्तुओं की ओर ही दत्तावधान रहता है। और अपनी अमूल्य सुख प्रदान कर सकने वाली वस्तु की ओर ध्यान नहीं देता। कहने का भाव यह है कि इन्द्रिय सुख की ओर ध्यान देने वाला व्यक्ति इन सामान्य सांसारिक सुखभासों को ही सुख कुछ मानता है। और आत्मानन्द स्वरूपी अनन्त अनुपमेय सर्वातिशायी सुख की ओर ध्यान भी नहीं देता ॥२३॥

दुःखलभ्यान् दुखमयान् परिणामेऽतिदुःखदान् ।
विषयोत्थान् सुखाभासान् धिक् स्वात्मसुखरोधकान् ॥२४॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध स्वरूपी इन विषयों से प्राप्त होने वाले सच्चे माने में सुख नहीं होते हुए भी ऊपर से सुख की तरह प्रतीत होने वाले सुखाभासों को धिक्कार है। जोकि अपनी आत्मा में ही विद्यमान सच्चे सर्वातिशायी परमसुख से हमें वञ्चित करने वाले हैं।

इन सांसारिक सुखों को प्राप्त करने में कई कठिनाइयाँ होती हैं। बड़े-बड़े दुःख उठाने पड़ते हैं। अतः ये सभी दुःखलभ्य कहलाते हैं। इस त्रिगुणात्मक सृष्टि में इस भूलोक पर रजोगुण का ही बाहुल्य है। ब्रह्मादि स्तम्ब पर्यन्त की सृष्टि "मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः" के अनुसार रजोगुण विशिष्ट होती है और उसकी विशिष्टता के हेतुवश यहां के सुख भी दुःखमय ही होते हैं। इसीलिए सुख एवं दुःख दोनों का छूटना ही सच्चा सुख जाना जाता है। क्योंकि अप्रीति अर्थात् दुःख ही रजोगुण का स्वरूप है। अतः तन्मय संसार में दुःख ही दुःख है। इसीलिए सांसारिक सुख भी दुःखमय ही माने जाते है। क्योंकि सांसारिक सुखों से आखिर में सुनिश्चित रूप से भयंकर कष्ट ही होता है। जैसे पुत्रोत्पत्ति बहुत सुख की अनुभूति ही होती है किंतु उसके मर जाने पर बहुत अधिक असह्य दुःख की अनुभूति भी होती है। इसी तरह संसार के सभी सुख प्राप्त होने में सुख की अनुभूति होती है; किंतु पूर्णता में सर्वथा दुःख ही प्राप्त होता है। अतः परिणाम जिनका दुःखमय हो वे सुख सुख नहीं माने जा सकते अपितु वे दुःख ही माने जायेंगे।

ये विषय सुख सर्वातिशायी सर्वोत्कृष्ट वास्तविक आत्मानन्द स्वरूपी सुख में रुकावट पैदा करने वाले हैं। अतः इन्हें धिक्कार है। अर्थात् सच्चे एवं आसानी से सुलभ स्वात्म सुख को छोड़कर विषम भोगात्मक सुखाभास को पाने में लगे प्राणियों को धिक्कार है; कि वे स्थायी सुख की ओर ध्यान न देकर

आखिर में दुःख रूप में ही परिणत होने वाले क्षणिक सुखों की ओर अग्रसर होकर अपना भयंकर नुकसान कर रहे हैं ॥२४॥

इति श्रीविज्ञानभिक्षुविरचिते सांख्यसारे आत्मानात्मनोः प्रियाप्रियत्व-वैधर्म्यपरिच्छेदः ।

इस तरह श्रीविज्ञानभिक्षु द्वारा लिखित सांख्यसार नामक ग्रंथ के उत्तर भाग में आत्म तत्त्व और अनात्म तत्त्वों की प्रियता और अप्रियता रूपी भिन्न भिन्न वैशिष्ट्य सम्पन्नता का प्रतिपादन करने वाला चौथा परिच्छेद परिपूर्ण हुआ ।

———

पंचमः परिच्छेदः

परिच्छेद त्रयेणोक्तं सच्चिदानन्दरूपकम् ।
मयिभानं श्रुतिस्मृत्योरात्मनो लक्षणत्रयम् ।।१।।

इस पञ्चम पच्छिेद से पूर्व वाले तीन परिचच्छेदों में से आत्म तत्त्व के सत् चित् एवं आनन्द स्वरूपों का प्रतिपादन किया गया है अर्थात् द्वितीय परिच्छेद में आत्मा की सद्रूपता, तृतीय परिच्छेद में आत्मा की चिद्रूपता तथा चतुर्थ परिच्छेद में आत्मा की आनन्दरूपता का प्रतिपादन किया गया है। जो सत्‌चित् एवं आनन्दस्वरूपी आत्मा के तीन लक्षण यहां प्रतिपादित किये गये हैं वे श्रुतियों में एवं स्मृतियों में अनुमान प्रमाण द्वारा प्रतिपादित किये हुए हैं ।।१।।

तद्वैपरीत्यमन्येषाम्, लक्षणञ्चेरितं स्फुटम् ।
आभ्यान्तु गुणदोषाभ्यां विवेको दोषहृत् परः ।।२।।

आत्मातिरिक्त अन्य तत्त्वों की सद्रूपता से विपरीत असद्रूपता अर्थात् स्वरूपान्तरित होने का वैशिष्ट्य चिद्रूपता से विपरीत जड़रूपता, आनन्दरूपता से विपरीत दुःखस्वरूपता स्वरूपी लक्षण सुस्पष्ट रूप से बतलाया गया है। इन सच्चिदानन्दरूपता रूपी आत्मा के गुणों के तथा पारमार्थिक रूप से असद्रूपता, अचेतनता, और दुःखमयता रूपी अनात्म तत्त्वों के दोषों के परिज्ञान द्वारा जो विवेक होता है। वही सर्वोत्कृष्ट दोषों का अपहरण करने वाला है ।।२।।

नैर्गुण्यसगुणत्वादिवैधर्म्याण्यपराण्यपि ।
बहूनि वक्ष्ये संक्षेपात् पुम्प्रकृत्योरतः परम् ।।३।।

अब इसके बाद पञ्चम परिच्छेद में पुरुष एवं प्रकृति में जो निर्गुणता एवं सगुणता इत्यादि बहुत से दूसरे वैधर्म्य भी हैं। जिनको संक्षेप से इससे आगे बतलाऊंगा। ऐसा लिखते हुए आचार्य श्रीविज्ञानभिक्षु इस परिच्छेद के प्रतिपाद्य विषय की ओर संकेत करते हैं ।।३।।

धियोऽर्थाकारया वृत्त्या, जनितत्वात् सुखादयः ।
सामानाधिकरण्येन कल्प्यन्ते लाघवाद् धियाम् ।।४।।

बुद्धि की शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्धात्मक विषयों के आकार से वैसे

आकार वाली वृत्ति के द्वारा उत्पन्न होने वाले के हेतुवश सम्पूर्ण सुख, दुःख, मोह, बुद्धि के ही माने जाते हैं। क्योंकि कार्य एवं कारण इन दोनों का मूल आधार एक ही होता है। इस सिद्धांत के अनुसार बुद्धिवृत्ति रूपी कारण के बुद्धिनिष्ठ होने के हेतुवश उससे उत्पन्न होने वाले के हेतुवश, सुख, दुःख, मोह, भी बुद्धिनिष्ठ ही हैं। ऐसा मानना युक्तियुक्त है। उन्हें आत्मनिष्ठ मानना किसी भी तरह से युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता। और ऐसा मानने में लाघव होता है। इस कारण से भी सुखादि का बुद्धिनिष्ठ माना जाना सुसंगत प्रतीत होता है। यदि सुखादि को आत्मोपादानक मान लिया जाय ; तो ऐसी स्थिति में आत्मा, मन और आत्मा तथा मन का संयोग इन तीनों की कारणता माननी पड़ेगी। इस प्रकार तीन की कारणता मानने की अपेक्षा एकमात्र मन की कारणता मान लेने में लाघव होने के हेतुवश सुखादि को आत्मा के न मान कर बुद्धि के ही माने जाते हैं ॥४॥

महदादेर्जडत्वेन तद्धेतुश्च जडो मतः ।
कार्यकारणसाजात्यं दृष्टं लोके हिसर्वतः ॥५॥

महदादि तत्त्वों के जड़ होने के कारण महदादि का मूल कारण भी जड़ प्रकृति को ही माना जाता है। क्योंकि कार्य एवं उसके उपादान कारण की समान जातीयता एक प्रकारता संसार में सभी तरफ देखी गयी है। जैसे चीनी में मिठास है ; तो चीनी से बनी हुई मिठाइयों में भी मिठास होती ही है। "कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते" अर्थात् कारण में जो गुण होते हैं ; वे ही कार्य के गुणों को प्रारम्भ करते हैं। यानी कारण की विशेषताएँ ही कार्य में प्रकट होती हैं। क्योंकि कारण ही स्वयं कार्य के रूप में परिणत होता है। इसीलिए त्रिगुणात्मक एवं जड़ इन महदादि तेईस तत्त्वों का मूल कारण भी त्रिगुणात्मक एवं जड़ प्रकृति को ही माना गया है ॥५॥

अत आत्माबोधमात्रतयासिध्यति लाघवात् ।
गुणाः सर्वे प्रकृत्यादेर्विकाराश्चेतरेऽखिलाः ।६॥

इसीलिए आत्मा की ज्ञान में कारणता की कल्पना करने की अपेक्षा करने की अपेक्षा ज्ञान के स्वरूपत्व कल्पना करने में कार्य कारणभाव आदि गौरव का परिहार हो जाने के हेतुवश इसी पक्ष के लघु होने के हेतुवश आत्मा केवल बोधमात्रता की दृष्टि से सिद्ध हो जाता है। यही तथ्य प्रश्नोपनिषद् (६/२) में भी तर्कों एवं प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया गया है। आत्मा के अतिरिक्त दूसरे सभी गुण प्रकृत्यादि के विकार ही होते हैं। यहाँ प्रकृत्यादि के विकार कहने का आशय यह है कि सांख्यु में आठ तत्त्व ऐसे हैं; जो प्रकृतियां कहलाते हैं।

क्योंकि उनमें से दूसरे दूसरे तत्त्व भी उत्पन्न होते हैं और जो तत्त्व तत्त्वातन्र से उत्पन्न होता है, वह विकार कहलाता है। तथा जिस तत्त्व में से दूसरा कोई तत्त्व उत्पन्न होता है ; वही उस उत्पन्न हुए तत्त्व की प्रकृति कहलाता है। इस तरह मूल प्रकृति से महत्तत्त्व प्रकट होता है। अतः वह विकार हुआ और महत्तत्त्व में से अहंकार तत्त्व प्रकट होता है ; इसीलिए वह प्रकृति भी कहलाता है। इसी तरह अहंकार से पञ्चतन्मात्र उत्पन्न होते हैं। अतः अहंकार भी प्रकृति हुआ तथा स्वयं महत्तत्त्व से प्रकट होता है इसीलिए वह, विकार भी है ही। ऐसे ही पञ्चतन्मात्राओं से क्रमशः शब्दतन्मात्र से आकाश, स्पर्शतन्मात्र से वायु, रूपतन्मात्र से तेज, रसतन्मात्र से जल और गन्धतन्मात्र से पृथिवी ये पाँच तत्त्व पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं। अतः ये पञ्चतन्मात्र भी प्रकृतियां कहलाते हैं, तथा ये स्वयं अहकार से प्रकट होते हैं। इसीलिए ये सभी विकृतियाँ भी हैं ही। इस प्रकार प्रकृति. महत्तत्व, शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र इन आठों से तत्त्वान्तरोत्पत्ति होंने के हेतुवश ये सभी प्रकृति कहलाते हैं। प्रकृति के साथ आदिशब्द का प्रयोग इन महदादि सातों तत्त्वों के भी विकार हैं इस बात को स्पष्ट करने के लिए किया गया है ॥६॥

आत्मा तु निर्गुणस्तद्वत् कूटस्थश्च मतो बुधैः ।
चितेः कूटस्थसंज्ञा तु स्थिरत्वाद् गिरिकूटवत् ॥७॥

विद्वान् पुरुषों द्वारा आत्मा को तो निर्गुण माना गया है ; और वैसे ही कूटस्थ भी माना गया है। पहाड़ के कूट की तरह आत्मा के अनादि काल से अनन्त काल तक सुस्थिर रहने के हेतुवश आत्मा को "कूटस्थ" इस नाम से व्यवहृत किया जाता है। कूटस्थ शब्द के विषय में परपशाह्निक में लिखा है कि—"कूटमयोघनं तद्वत् तिष्ठतीति कूटस्थम्" कूट कहते हैं। लोहे के कणों की पारस्परिक सघनता को कूट कहते हैं ; उसी की तरह आत्मघन भी सुस्थिर रूप से रहता है। इसीलिए आत्मा को कूटस्थ बतलाते हैं ॥७॥

लेपश्चेतरसम्बन्धे तद्रूपैरूपरक्ता ।
यथा विषयसम्बन्धाद् बुद्धौ भवति वासना ॥८॥

दूसरे के साथ सम्बन्ध होने पर उस सम्बद्ध होने वाली वस्तु के स्वरूपों के साथ जो प्रथम वस्तु की सरावोरता होती है, वही लेप कहलाती है। जिस प्रकार से बुद्धि का शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गध स्वरूप विषयों के साथ सम्बन्ध होने से उन उन विषयों की वासना बुद्धि में होती है ॥८॥

भाण्डादौ द्रव्ययोगाच्च तत्तद्द्रव्यस्य वासना ।
लेपहेतुश्च सम्बन्धः सङ्गः सम्बन्धिचाञ्जनम् ॥९॥

वर्त्तन इत्यादि वस्तुओं में द्रव्य का संयोग होने के हेतुवश जिस जिस पात्र

में जिस जिस द्रव्य का संयोग होता है, उस उस पात्र में उस उस द्रव्य की वासना अवश्य होती ही है। इस तरह एक वस्तु का दूसरी वस्तु से उपरक्त होना ही लेप कहलाता है; तथा लेप का कारण एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ होने वाला सम्बन्ध ही होता हैं। अपने से सम्बद्ध रहने वाली वस्तु का अपने साथ सर्वथा सम्पृक्त हो जाना ही सङ्ग कहलाता है ।।६।।

अतो निरञ्जनोऽसङ्गो निर्लेपश्चोच्यते पुमान् ।
नभःपुष्करपत्रादि—दृष्टान्तैः परमर्षिभिः ।।१०।।

इसीलिए आकाश एवं कमल के पत्ते आदि के उदाहरणों द्वारा महर्षि आसुरि इत्यादि महात्मा आत्म तत्त्व पुरुष को निरञ्जन अर्थात् कभी किसी से सराबोर न होने वाला, असङ्ग अर्थात् सर्वथा आसक्ति शून्य रहने वाला, निर्लेप अर्थात् दूसरी वस्तु से सम्बन्ध होने पर भी उसके स्वरूप से उपरक्त नहीं होने की विशेषता से सम्पन्न बतलाते हैं ।।१०।।

चिन्मात्रानन्तशक्त्यब्धौ पुमर्थपवनेरिताः ।
सत्त्वादिशक्तयो यान्ति विश्वबुद्बुद्रूपताम् ।।११।।

केवल आत्मा ज्योति की अनन्त शक्ति रूपी समुद्र में पुरुष तत्त्व के भोग और मोक्ष रूपी वायु से प्रेरित हुई सत्त्वादि शक्तियाँ क्षणभंगुर संसार रूपी बुलबुले की स्वरूपता को प्राप्त करती हैं। अर्थात् परमव्यापक परम ज्योति परमात्मा में ही चेतन तत्त्व जीवात्मा के पूर्व सञ्चित कर्माशय वासना के अनुरूप भोग एवं क्रमशः मोक्ष की सिद्धि के लिए महदादि तत्त्व क्रमशः संसार के रूप में परिणत होते हैं, और पुरुष के भोग एवं मोक्ष की सिद्धि हो जाने पर अपने कारण में लीन हो जाते हैं ।।११।।

अत ईशश्चिदात्मैव जगतः सन्निधानतः ।
मणिवत् प्रेरकत्वेन जडानामयसामिव ।।१२।।

पुमानेव जगत्कर्त्ता जगद्भर्त्ताऽखिलेश्वरः ।
स्वाम्यर्थे भृत्यवद्यस्माज् जडवर्गः प्रवर्त्तते ।।१३।।

इसीलिए जिस प्रकार से सर्वथा जड़ लोहे की लोहचुम्बक मणि केवल उस लोहे के पास होने मात्र से ही उस लोहे की प्रेरक होती है। उसी प्रकार से यथा तथा अन्यथा कर्त्तुं समर्थ अर्थात् जब, जहाँ, जैसा चाहे तभी, वहीं, वैसा ही सर्वथा कर सकने में समर्थ ईश्वर चैतन्य ज्योति आत्मा ही अपने सान्निध्य मात्र से संसार के रूप में विद्यमान प्रकृति एवं महदादि का प्रेरक होने के हेतुवश ही सम्पूर्ण संसार का बनाने वाला, सम्पूर्ण संसार का भरण पोषण

होने की वजह से उनकी तुलना में शरीर ही ईश्वर होता है; क्योंकि वही उनका प्रेरक बनता है। किन्तु शरीर भी इन्द्रियों की प्रेरणा के विना कुछ नहीं कर सकता है। इसलिए शरीर की तुलना में उनका ईश्वर इन्द्रियाँ ही मानी जाती हैं। सभी इन्द्रियाँ भी बुद्धि की प्रेरणानुसार ही अपने-अपने कर्त्तव्य पूर्ण करती हैं। अतः उनकी अपेक्षा ईश्वरत्व बुद्धि में ही माना जाता है। "यो बुद्धे परतस्तु सः" इत्यादि वचनों के अनुसार बुद्धि से भी परे रहने वाला चेतन तत्त्व आत्मा है; और उसी के भोग एवं मोक्ष हेतु बुद्धि भी सेवा संलग्न रहती है। अतः बुद्धि की तुलना में वह जीवात्मा ही ईश्वर है। किन्तु कूटस्थ चैतन्य ईश्वर का कोई दूसरा प्रेरक नहीं होने के हेतुवश ईश्वर पर्य्यन्त ही यह प्रेरकत्व की विशेषतानुसार पारम्परिक ईश्वरत्व स्वीकार किया जाता है। परन्तु वह स्वयं परम अवधि हो जाता है; इसलिए सुनिश्चित रूप से सर्वसाक्षी सर्वद्रष्टा तो केवल परमात्मा परमेश्वर ही है। उससे बढ़कर कोई नहीं है, जो उसे भी प्रेरित कर सके।

अन्यस्यागन्तुकैश्वर्यं बहुव्यापारसङ्कुलम् ।
निर्व्यापारस्य निर्दोषम् अनाद्यैश्वर्यमात्मनः ॥१८॥

अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ये आठों ऐश्वर्य एवं इसी प्रकार के सम्पूर्ण सामर्थ्य ईश्वर में होते हैं। इन्हीं ऐश्वर्यों से सम्पन्न होने के हेतुवश ही तो उस पुरुष विशेष को ईश्वर कहा जाता है। इसीलिए यहाँ स्पष्ट किया गया है; कि अन्य तत्त्वों में जो ऐश्वर्य हमें अनुभव होता है। वह उनके पास आया हुआ होता है; और अनेक प्रकार के क्रिया कलापों से व्याप्त रहता है। इसलिए वह ऐश्वर्य अस्थायी और दोषपूर्ण माना जाता है।

किन्तु आत्मा का ऐश्वर्य तो विना किसी प्रक्रिया के स्वतः स्वाभाविक होता है, अतः वह सर्वथा दोषशून्य होता है ; तथा अनादि काल से अनन्त काल तक बना रहने वाला होता है। क्योंकि संसार का यह नियम है; कि जितनी भी वस्तुएँ कृत्रिम होती हैं, वे सभी नश्वर और अस्थायी होती हैं; वे ही अविनश्वर और स्थायी होती हैं। इसीलिए कहा गया है; कि निर्व्यापार आत्मा का ही ऐश्वर्य निर्दोष एवं अनादि है और इसीलिए अनन्त भी है ॥१८॥

सर्वशक्तिमयो ह्यात्मा शक्तिमण्डलताण्डवः ।
संसारं तन्निवृत्तिञ्च माययाऽऽप्नोति हेलया ॥१९॥

सुनिश्चित रूप से यह आत्मा सम्पूर्ण शक्तियों से परिपूर्ण एवं निखिल शक्तियों के समुदाय की विभिन्न लीलाओं का केन्द्र है। अपनी माया के द्वारा

क्रीड़ा में ही संसार की सम्पूर्ण स्थितियों को तथा उनसे सर्वथा मुक्ति को समधिगत करता है ॥१६॥

सर्वातिशायि निर्दोषमैश्वर्यमिदमात्मनः ।
पश्यतो योगिनो ब्राह्म-मप्यैश्वर्यं तृणायते ॥२०॥

आत्मा के सबसे विशिष्ट सर्वथा दोष शून्य, इस ऐश्वर्य को देखने वाले योगी की दृष्टि में ब्रह्मादि ईश्वर स्वरूपों में ब्रह्मा का जो ऐश्वर्य है वह भी तिनके की तरह नगण्य-सा प्रतीत होता है।

अर्थात् आत्मा के स्वाभाविक ऐश्वर्य का साक्षात्कार कर लेने पर योगी को यदि ब्रह्मादि के पद का भी लालच दिया जाय; तो भी वह सब इस आत्मैश्वर्य के अनन्त आनन्द की तुलना में उसे सर्वथा तुच्छ प्रतीत होता है। क्योंकि यही सर्वोत्कृष्ट ऐश्वर्य है ॥२०॥

बाह्यस्यात्मोच्यते देहो देहस्यात्मेन्द्रियाणि च ।
बुद्धिरात्मेन्द्रियान्तस्य बुद्धेरात्मा तु चिन्नभः ॥२१॥

बाह्य विषयों की अपेक्षा विशिष्ट समभिप्रेत होने के हेतुवश शरीर को ही आत्मा माना जाता है। औरों की अपेक्षा विशेष महत्त्वपूर्ण होने के कारण इन्द्रियों को आत्मा मानना समभिप्रेत है। किन्तु सभी इन्द्रियाँ भी सम्पूर्ण पुरुषार्थों के अपने अपने विषयों को बुद्धि के समक्ष प्रस्तुत करती हैं। इसलिए इन इन्द्रियों के लिए विशिष्ट बुद्धि हुई; और वही इनकी आत्मा मानी जाती है। बुद्धि तत्त्व भी पुरुष के भोगापवर्गार्थ सम्पूर्ण इन्द्रियों से समधिगत विषयों को प्रतिबिम्ब के रूप में चैतन्य ज्योति के समक्ष प्रस्तुत करती है। अतः इस बुद्धि की अपेक्षा भी चिज्ज्योति सुविशिष्ट हुई। इसीलिए उसे ही पारमार्थिक रूप में आत्मा स्वीकार किया जाता है ॥२१॥

अत आत्मावधित्वेन परमात्मोच्यते चितिः ।
तथाऽन्तःकरणैर्योगाज्जीव इत्युच्यते चितिः ॥२२॥

इससे आगे आत्मा की परम सीमा आ जाने के कारण ही इससे अधिक विशिष्ट माना जा सके ऐसा कोई तत्त्व नहीं बचता; जिसकी अपेक्षा चिति शक्ति न्यून रह जाय; तथा उसे इसका आत्मा माना जा सके। इसलिए इसी चितिशक्ति को ही परमात्मा बतलाते हैं, वैसे ही वही चिति शक्ति जब उसका बुद्ध्यादि अन्तःकरणों के साथ संयोग हो जाता है; तो वही जीवात्मा भी कहलाती है ॥२२॥

अविद्याकार्य्यरहितः, परमात्मेति च स्मृतिः ।
यस्य यद् व्यापकं तस्य तद् ब्रह्माऽतो धरादिकम् ॥२३॥

अविद्या युक्त जीवात्मा होता है। अतः अविद्या के सम्पूर्ण कार्यों से शून्य

रहने वाला परमात्मा होता है । इस विषय में महाभारत में भी लिखा है कि —

आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः ।
तैरेव तु विनिर्मुक्त परमात्मेत्युदाहृवः ॥
(शान्तिपर्वणि १८७/२३)

प्रकृति के सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनों गुणों एवं इन्हीं के प्रपञ्च से जब आत्मा संयुक्त होता है । अर्थात् प्रतिबिम्बन सामर्थ्य से बुद्धि जब विषयाकाराकारित होकर आत्मा में प्रतिबिम्बित होती है । तो वह आत्मा जीवात्मा कहलाता है । जब वह गुणों के सम्पूर्ण प्रपञ्च से सर्वथा मुक्त हो जाता है । तो उसी आत्मा को परमात्मा कहा गया है । (शान्तिपर्व १८७/२३)

जिस वस्तु में से जो वस्तु प्रकट होती है; उस उत्पन्न होने वाली वस्तु के लिए उसकी मूलाधार वस्तु ही ब्रह्म कहलाती है । इसीलिए पृथ्वी इत्यादि वस्तु भी ब्रह्म कहलाती है ॥२३॥

प्रकृत्यन्तम्भवेद् ब्रह्म स्वस्वकार्याद्यपेक्षया ।
सेश्वरे साङ्ख्यवादेऽपि चितेरेवानुमन्यते ॥२४॥

पृथिवी से लेकर प्रकृति पर्यन्त के सभी तत्त्व अपने अपने कार्य की अपेक्षा "बृहणाद् ब्रह्म" अर्थात्—बढ़ने की वजह से उसे ब्रह्म कहते हैं । इस व्युत्पत्ति के अनुसार सभी ब्रह्म कहलाते हैं । सेश्वर और निरीश्वर भेद से सांख्य दो प्रकार का है । ऐसा कुछ लोग मानते हैं । "सांख्यं सेश्वरं निरीश्वरं चेति द्विविधमिति केचन (ललितासहस्रनाम भाष्य पृ० ६३) ईश्वरता तो वस्तुतः बुद्धि का ही धर्म विशेष है । इसलिए सांख्य निरीश्वर है; ऐसा कहना तो केवल कहना मात्र है । हाँ यह बात अवश्य है; कि महाभारतादि गतसांख्य में ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है; और सांख्यकारिका प्रभृति में ईश्वर का प्रतिपादन महत्तत्त्व के निरूपण के रूप में भले ही गतार्थ कर लें । किन्तु ईश्वर के नाम के रूप में तो नहीं ही है । सांख्यसूत्र एवं उनके सांख्यप्रवचन नामक भाष्य में तो 'ईश्वरासिद्धेः" द्वारा प्रौढिवाद से ईश्वर को असिद्ध भी बतलाया गया है किन्तु नैय्यायिकों की तरह सम्पूर्ण सृष्टि का कर्त्ता नहीं माना जाता है । यदि अणिमादि युक्त पुरुष को ईश्वर माना जाए तो —"तादृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा" इस सूत्र के अनुसार ईश्वर की सिद्धि को भी स्वीकार किया है ।

यहाँ पर यह तथ्य अवश्य ध्यान में रखना चाहिए; कि "ईश्वरासिद्धेः" इस सूत्र में असिद्धि शब्द का प्रयोग किया है । अभाव शब्द का प्रयोग नहीं किया गया । इससे स्पष्ट है कि सांख्य में ईश्वर का निषेध कहीं नहीं । रहा प्रश्न सांख्यकारिका का, तो उसके विषय में यह स्पष्टीकरण है, कि सांख्य की

सृष्टि प्रक्रिया में ईश्वर की कोई अपेक्षा नहीं थी। अतः न विधान किया और न निषेध ही और "मौनं स्वीकृतिलक्षणम्" के अनुसार तो ईश्वर स्वीकृत ही है। तथा ऐश्वर्य बुद्धि के धर्म विशेष की छटा ही है। इस स्वरूप में तो सर्वत्र सांख्य में ईश्वर है ही। इसलिए यह स्पष्ट है कि सांख्य सेश्वर ही है; और यदि ईश्वर प्रतिषेध माना भी जाय तो वह ईश्वर प्रतिषेध सांख्य की कमजोरी है। और इस कमजोरी को श्रीविज्ञानभिक्षु ने सांख्यप्रवचन भाष्य के प्रारम्भ में ही स्वीकृत किया है।

अस्तु। यहाँ तो यही कहा गया है, कि सेश्वर सांख्यवाद में भी परं ब्रह्म स्वरूपता पारमार्थिक रूप से ब्रह्म स्वरूपता आत्मा की ही मानी जाती है ॥२४॥

परे वा परमात्मत्वादिकन्तु न जडे क्वचित्।
अध्यक्षव्यापकत्वाभ्यां परं ब्रह्म तु चेतनः ॥२५॥

"यो बुद्धेः परतस्तु सः" "एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा" इत्यादि वचनों के अनुसार आत्म तत्त्व के लिए ही पर शब्द का व्यवहार होता है। इसलिए यहाँ पर भी आत्म तत्त्व के लिए ही पर शब्द का प्रयोग किया गया है। ऐसा स्वीकार करना युक्तियुक्त है। परमात्मा आदि का प्रयोग सभी शास्त्रों में सुलभ है। किन्तु जड़ तत्त्व प्रकृति एवं महदादि के विषय में परमात्मता आदि का प्रयोग कहीं भी किसी भी शास्त्र में नहीं मिलता है अध्यक्षता एवं व्यापकता के द्वारा सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म तो चेतन तत्त्व को ही माना जाता है। "संघातपरार्थत्वात्" इत्यादि वचनों द्वारा स्पष्ट किया गया है; कि—सघातात्मक होने के हेतुवश प्रकृति एवं सम्पूर्ण महदादि तत्त्वस्वरूपामत्क प्रकृति का प्रपञ्च, किसी अन्य के लिए ही होता है। और वह अन्य है, चेतनतत्त्व। इसलिए उस चेतनतत्त्व की ही अध्यक्षता स्वीकार करते हैं। तथा आपेक्षिक ब्रह्मस्वरूपता की चरम सीमा वहीं मानकर आत्म तत्त्व में ही पारमार्थिक रूप से ब्रह्मत्व को मानते हैं ॥२५॥

तस्याध्यक्षं व्यापकञ्च न हेतुविधयाऽस्ति हि।
प्रसङ्ख्यात्मा नभोराशिरविभक्तैकरूपकः ॥२६॥

कारण की दृष्टि से विचार करते पर सुस्पष्ट है; कि उस आत्म तत्त्व का कोई भी तत्त्व न तो अध्यक्ष है, और न ही उससे अधिक व्यापक है। जिस प्रकार सूर्य एवं उसकी किरणों के परस्पर पृथक् पृथक् होते हुए भी सूर्य एवं उसकी किरणों में अविभाग लक्षण एकाकारता स्वीकृत की गई है। उसी प्रकार से असंख्य आत्म तत्त्व व्यापक आत्मतत्त्व में अविभक्त रूप से अविभागलक्षणाभेद

रूपता से घटाकाश मठाकाश एवं महाआकाश रूपी आकाश समुदाय की तरह असंख्य आत्मतत्त्व की राशि परमात्म तत्त्व के साथ अविभक्त एक स्वरूपात्मक है। इसीलिए उस आत्म तत्त्व का कोई भी प्रकाशक नहीं होता है। अथवा उससे बहुत अधिक व्यापक कोई दूसरा तत्त्व नहीं है ॥२६॥

सोऽन्तश्चिद्घनविज्ञान घनात्मघनसंज्ञकः।
प्रकाशस्यानपेक्षत्वात् स्वस्य द्रष्टृतयाऽपि च ॥२७॥

इस श्लोक से प्रारम्भ करके कई श्लोकों के द्वारा प्रतिपादन किया जाता है; कि जो यह आत्मा चैतन्य स्वरूप, गौणरूप से भोग भोगने वाला, और साक्षी है तथा बुद्धि मुख्य रूप से भोग भोगने वाली और अनित्य है।

इसलिए स्वयंप्रकाश अपने आपका स्वयं साक्षात्कर्त्ता होने की वजह से और प्रकाशान्तर की अपेक्षा नहीं रहने के हेतुवश आत्मज्योति ही आत्मज्योति चिद्घन (चैतन्य ही चैतन्य) विज्ञानघन विज्ञानराशि (विज्ञान ही विज्ञान) और आत्मघन (आत्मा ही आत्मा) इन नामों से पुकारा जाता है ॥२७॥

स्वप्रकाश; पुमानुक्तः इतरे तद् विलक्षणाः।
भोगोऽस्यवहृतिः सा च कूटस्थे नास्ति धीष्विव ॥२८॥

अपने आपके प्रकाश से प्रकाशमान पुरुषतत्त्व को ही स्वप्रकाश कहा गया है। किन्तु पुरुष के अलावा अन्य प्रकृतिप्रभृति तत्त्वों को उससे विलक्षण अर्थात् परप्रकाश तत्त्व बतलाया गया है। बुद्धियों की तरह नैकविध शब्द, स्पर्श, रूप रस गन्धात्मक भोगों को भोगने की वह स्थिति कूटस्थ चैतन्य आत्मज्योति में नहीं है ॥२८॥

धीवृत्तिप्रति बिम्बाख्य—गौणभोगा तु भोक्तृता।
साक्षाद् धीवृत्तिद्रष्टृत्वाद् बुद्धिसाक्ष्युच्यते पुमान् ॥२६॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धात्मक विषयों के आकार इन्द्रियों के माध्यम से बुद्धि में उपस्थित होते हैं। उनके आकार ही उस उस समय बुद्धिवृत्ति के आकार हो जाते हैं। उनके प्रति बिम्ब पुरुष में गिरते हैं। जिससे सर्वथा कर्तृत्व भोक्तृत्व से पारमार्थिक रूप से असम्पृक्त रहने पर भी गौणरूप से पुरुष में भोग उपस्थित माने जाकर उसकी भोक्तृता स्वीकृत की गई है। साक्षात् तो वह चेतनतत्त्व पुरुष केवल बुद्धिवृत्ति का देखने वाला होने की विशेषता से सम्पन्न होने के हेतुवश बुद्धिसाक्षी बतलाया जाता है ॥२६॥

विना विकारं द्रष्टृत्वात् साक्षी तूक्तोऽखिलस्य सः।
चेत्योपरागरूपत्वात् साक्षिताऽप्यध्रुवा चितः ॥३०॥

आत्मा का तो साक्षित्व भी अनित्य है। क्योंकि यह साक्षित्व भी विषय

के सम्बन्ध पर ही निर्भर करता है। आत्मा तो शुद्ध दर्शनस्वरूप केवल ज्ञान रूप ही होता है। इसीलिए लिखा है; कि—विना किसी भी तरह के विकार के द्रष्टा होने के हेतुवश निखिल वस्तुजात का सम्पूर्ण संसार का वह द्रष्टा साक्षी बतलाया गया है।

किन्तु यह साक्षिता भी विषयाकाराकारित बुद्धिवृत्ति के प्रतिबिम्ब के सम्पर्क स्वरूपा ही होने के हेतुवश आत्मज्योति की साक्षिता भी अस्थिर अर्थात् अनिश्चित है ॥३०॥

उपलक्षणमेवेदमपि व्यावृत्तये जडात्।
अतः पुमानर्दिश्योऽणुश्च सूक्ष्मश्चकथ्यते ॥३१॥

आत्मतत्त्व वास्तव में स्वरूपतः निर्धर्मक होता है। फिर भी शक्तिमत्ता साक्षिता इत्यादि उसे केवल जड़ तत्त्वों से पृथक् समझने के लिए और उससे जड़तत्त्वों को अलग करने के लिए महदादि प्राकृत वस्तुओं का औपलक्षित प्रयोग आत्मा में कर दिया जाता है। पारमार्थिक रूप से तो आत्मा में कोई भी धर्म नहीं होता। इसीलिए उसे शास्त्रों में अनिर्देश्य, अणु, और सूक्ष्म कहा जाता है ॥३१॥

विना दृश्यमदृश्यत्वादव्यक्त इचोच्यते स्वतः अदृश्यो
दृश्यते राहु गृंहीतेन यथेन्दुना।
अदृश्यं चास्यमादर्शे चित्तथा स्वस्वबुद्धिषु ॥३२॥

बुद्ध्यादि दृश्य तत्त्वों के विना उस आत्म तत्त्व का साक्षात्कार नहीं किया जा सकने के हेतुवश ही स्वतः आत्म तत्त्व को अव्यक्त ही कहा जाता है। किन्तु जैसे राहु सामान्यतः कभी किसी को दिखाई नहीं देता हैं; किन्तु जब चन्द्रग्रहण होता है तो ग्रस्त चन्द्रमा के साथ वह भी दिखाई देता है। और अपना मुंह अपने आपको स्वयं दिखाई नहीं देता है; तथापि शीशे में प्रतिविम्बित होने पर दिखाई देता है। ठीक उसी प्रकार से आत्मज्योति भी सामान्यतः दिखाई नहीं देने पर भी अपनी अपनी बुद्धियों में प्रतिविम्बित होने पर अनुभूत होती है। क्योंकि यदि दृश्य बुद्धि के साथ सम्बन्धन हो तो आत्मा अज्ञेय ही हो और अज्ञेय होने से वह अव्यक्त कहा जाता है। यह पद्य विशेषक है क्योंकि इसमें ६ पाद हैं।।३२॥

चिति बिम्बस्य सङ्गश्चेद् विश्वं भासेत सर्वदा।
विश्वाधारोऽप्यतः शून्यम् इति चिद् गीयते खवत् ॥३३॥

बिम्ब की आसक्ति यदि आत्मज्योति में मानी जाय तो हमेशा हर समय संसार भासित होता रहे; किन्तु वस्तुतः ऐसा होता नहीं है। इसीलिए यह

स्पष्ट है; कि—विम्ब की आसक्ति आत्मा में नहीं होती। इसलिए सम्पूर्ण संसार का आधार भी शून्य को ही स्वीकार किया जाता है। और इसीलिए आत्मा को शास्त्रों में आकाश की तरह बतलाया जाता है ॥३३॥

दृश्यदोषान्मृषा बुद्धिः, द्रष्टर्यारोप्य निर्मले।
आदर्शे मलवद् व्योम्नि दोषदृष्ट्या तु तप्यते ॥३४॥

सर्वथा शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, स्वभाव वाले निर्मल आत्म तत्त्व द्रष्टा चेतन में सम्पूर्ण दृश्य पदार्थों के दोषों को झूँठे ही आरोपित करके आत्मा में दोष हैं। ऐसी दृष्टि बन जाने से ही बुद्धि दुःखी होती है। जैसे शीशा गन्दा हो और उस गन्दे शीशे में मुँह देखने वाला व्यक्ति उसे शीशे की गन्दगी को अपने मुँह पर ही गन्दगी है ऐसा झूँठे ही समझकर दुःखी होता रहता है। ठीक उसी प्रकार से दृश्य दोषों को शुद्ध आत्माकाश में आरोपित कर लेने से बुद्धि को ही दुःखी होना पड़ता है। पारमार्थिक रूप से आत्मा में कभी भी कोई भी दोष होता ही नहीं है। इसलिए दुःख का कोई प्रश्न ही नहीं। यह सम्पूर्ण दुःख रजोगुण समनुस्यूत रहने वाले त्रिगुणात्मक दृश्य मात्र में होता है। गुणातीत निर्गुण आत्म तत्त्व में दुःख ही हो नहीं सकता। क्योंकि दुःख तो रजोगुण का स्वरूप है; और जहाँ कोई गुण है ही नहीं, वहाँ रजोगुण की सत्ता मानी कैसे जाय। और विना रजोगुण की सत्ता के तो दु.ख का कोई प्रश्न ही नहीं ॥३४॥

वस्तुतश्चिति नास्त्येव मलो दृश्याश्रितः सदा।
अतश्च निर्मलः स्वस्थो निर्दोषश्चोच्यते पुमान् ॥३५॥

वास्तव में आत्मज्योति में किसी भी प्रकार का कोई भी मल है ही नहीं। वह मल तो हमेशाँ त्रिगुणात्मक दृश्य तत्त्वग्राम में ही रहता है। और इसीलिए आत्मतत्त्व को पुरुष, निर्मल, स्वस्थ और सर्वथा दोष शून्य कहा जाता है ॥३५॥

सजातीयेषु वैधर्म्यलक्षणा नास्ति यद् भिदा।
अत आत्मा समः प्रोक्त ऐकरुप्याच्च सर्वदा ॥३६॥

एक जाति वाले होने के हेतुवश सभी आत्म तत्त्वों में समानता होती है; विरुद्ध धर्म स्वरूपी भेद नहीं होता है। इसीलिए आत्म तत्त्व को सम बतलाया गया है। दूसरी बात यह है; कि—आत्म तत्त्व में हमेशाँ एकस्वरूपता बनी रहती है। वह आत्मतत्त्व कभी भी रूपान्तरित नहीं होता। अतः हमेशाँ एकरूपता के हेतुवश भी आत्म तत्त्व को सम बतलाया गया है। कहने का तात्पर्य यह है; कि—आत्मा प्रतिशरीर भिन्न-भिन्न होने पर भी वैधर्म्य लक्षण रूपी भेद नहीं होने से ही सम कहा जाता है ॥३६॥

देहाध्यक्षतया देही पुर्य्यंभिव्यक्तितः पुमान् ।
एकाकित्वादद्वितीयः केवलश्चोच्यते तु सः ॥३७॥

शरीर का अध्यक्ष जीवात्मा के रूप में रहने वाला आत्म तत्त्व देह वाला अर्थात् देही कहलाता है। वैसे आत्म तत्त्व व्यापक होते हुए भी उसकी अभिव्यक्ति तो केवल शरीर में ही होती है। और शरीर रूपी नगरी को पुरि कहते हैं; उस शरीर रूपी नगरी में (पुरि) ही आत्म तत्त्व की अभिव्यक्ति होने के हेतुवश उसे पुमान् (शरीर स्वरूपी नगरी वाला) कहते हैं। प्रकृति अपने ही स्वेतर तेईस तत्त्वों में भी समनुस्यून रहती है। अतः वह तो चतुर्विंशति (चौबीस) तत्त्वों के रूप में रहती है। किन्तु पुरुष तत्त्व तो एकरूप होने के हेतुवश अद्वितीय कहलाता है। पच्चीस तत्त्वों में एकमात्र अधिष्ठाता होने के हेतुवश सर्वश्रेष्ठ, चेतन तत्त्व, एक मात्र, केवल कहलाता है। जड़ तत्त्व तो चौबीस हैं। चेतन तत्त्व साजात्य सम्बन्ध से नैकत्र होते हुए भी एक ही माना जाता है। इसीलिए केवल भी कहलाता है। वही आत्मज्योति है ॥३७॥

चिच्छक्त्यप्रतिबन्धेन प्रोच्यतेऽनावृतः पुमान् ।
सर्वस्वामितया चाऽऽत्मा क्षेत्रज्ञः क्षेत्रवेदनात् ॥३८॥

चिच्छक्ति स्वरूपा आत्मज्योति विना किसी प्रतिबन्ध के सर्वत्र व्याप्त रहती हैं। इसीलिए चेतन तत्त्व (पुरुष) को अनावृत्त कहते हैं। स्वामित्व के द्वारा सब कुछ व्याप्त करने के हेतुवश "अतति गच्छति सर्वं स्वामित्वेन व्याप्नोतिइति आत्मा" इस व्युत्पत्ति के अनुसार आत्मा सन पर अपना स्वामित्व प्राप्त कर लेता है। इसीलिए सबकी स्वामिता के द्वारा चेतन तत्त्व आत्मा कहा जाता है। सम्पूर्ण क्षेत्र का जानकार होने के हेतुवश इसी चेतन तत्त्व को क्षेत्रज्ञ भी कहते हैं ॥३८॥

हृत्सरोवरधीपद्म — दलवृत्तिषु लीलया ।
चरन्निवानन्दमीनान् भुञ्जानो हंस उच्यते ॥३९॥

हृदय रूपी सरोवर में बुद्धि रूपी कमल की वृत्ति रूपी फलियों में आनन्द पूर्वक विहार करता हुआ, और आनन्द रूपी मत्स्यों का भोग करता हुआ, आत्मा ही हंस कहलाता है। यह केवल रूपक की दृष्टि से भोक्तृत्व बतलाया गया है। वैसे यह आसन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की-सी स्थिति बतलायी गयी है। पारमार्थिक रूप से तो आत्मा में शुद्धत्व बुद्धत्व मुक्तत्व एवं पूर्णकामत्व होने के हेतुवश भोक्तृत्व होता ही नहीं है। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से प्रतिबिम्बन सामर्थ्यं द्वारा भोक्तृत्व प्रतिपादित किया गया है।

कठोपनिषद् २/२/२ की व्याख्या में हंस शब्द का आदित्य अर्थ स्वीकृत

किया है। ब्राह्मण वाक्य भी है "असौ वा आदित्यो हंसः शुचिषद्" तदनुसार हंस को शुचिषद् आदित्य स्वीकृत किया गया है। भट्टभास्कर ने भी कहा है; कि—आध्यात्मिक दृष्टि से हंस आत्मा को कहा जाता है। आधिदैनिक दृष्टि से हंस आदित्य को कहा जाता है और अधियज्ञ दृष्टि से हंस रथ को कहा जाता है ॥३९॥

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशन् पुनः।
प्राणवृत्त्याऽनये ऽचापि प्राण्यात्मा हंस उच्यते ॥४०॥

हकार की ध्वनि करता हुआ कोष्ठ से बाहर जाता है; और सकार की ध्वनि करता हुआ पुनः कोष्ठ में प्रविष्ट होता है। प्राणवृत्ति के द्वारा जीवन के लिए प्राणवायु वाला आत्मा (प्राणी) (जीवात्मा) हंस इस नाम से भी पुकारा जाता है ॥४०॥

शरीरागारहृद्व्योमगुहायां बुद्धिभार्यया।
व्यज्यमानस्तया सार्द्धं स्वपन्निव गुहाशयः ॥४१॥

शरीर रूपी घर के हृदयाकाशरूपी गुफा में बुद्धिस्वरूपिणी पत्नी के द्वारा अभिव्यक्ति को प्राप्त होता हुआ; यह मानो उसी के साथ सो रहा हो ऐसी स्थिति को प्राप्त होता हुआ यही जीवात्मा गुहाशय कहलाता है। क्योंकि "गुहायां शेते सोऽयङ्गुहाशयः" जो गुफा में सोता हो, वही गुहाशय होता है। यहाँ हृदयाकाशरूपी गुफा में मानो सो रहा हो ऐसी स्थिति में रहता है। इसीलिए आत्मा को गुहाशय भी कहा जाता है।

स्कन्द पुराण में भी लिखा है कि—

हकारेण वहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥
षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥

अर्थात् हकार की ध्वनि करता हुआ वायु शरीर रूपी कोष्ठ से बाहर जाता है। तथा वापिस सकार ध्वनि करता हुआ, शरीर रूपी कोष्ठ के भीतर वायु घुसता है। इस प्रकार से हंसः हसः इस मन्त्र को जीवात्मा प्रतिदिन जपता ही रहता है। एक दिन एव एक रात्रि में इक्कीस हजार छह सौ बार इस मन्त्र को प्रतिदिन जपता है। कहने का भाव यह है; कि—प्रतिदिन जीवात्मा इक्कीस हजार छह सौ बार श्वसन क्रिया करता है ॥४१॥

त्रिगुणात्मकमायां स्वां, सान्निध्यात् परिणामयन्।
मायीति कथ्यते चात्मा तत्कृतानृतवेषधृक् ॥४२॥

अपने सान्निध्य मात्र से सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण इन तीनों गुणों

के स्वरूप वाली अपनी माया को अनेक स्वरूपों में परिणत करवाता हुआ, और उसी माया द्वारा बने हुए, झूँठे ही अनेक वेशों को धारण करने वाला होने के हेतुवश यही आत्मा मायी कहलाता है ॥४२॥

खान्येकादशभूतानि, पञ्चैतानि च षोडश।
पुंसः कलास्तत्स्वतस्तु निरंशत्वात् स निष्कलः ॥४३॥

श्रोत्रेन्द्रिय, त्वगिन्द्रिय नेत्रेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय वागिन्द्रिय, हस्तेन्द्रिय, पादेन्द्रिय, पाय्विन्द्रिय इस प्रकार से प्रथम पाँच इन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं। तथा अन्तिम पाँच इन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियाँ कहलाती हैं। और मनसिन्द्रिय नाम की ज्ञानकर्मोभयेन्द्रिय ग्यारहवीं इन्द्रिय है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच महाभूत हैं। ये सभी मिलकर सोलह तत्त्व हो जाते हैं। और ये सोलहों चेतन तत्त्व जीवात्मा पुरुष की सोलह कलाएँ होती हैं। यह केवल व्यावहारिक जगत् की दृष्टि से है। वैसे वास्तव में तो आत्मा में कोई हिस्सा नहीं होता है। अतः वह निरंशता वाला है। और निरंश होने के हेतुवश पुरुष तत्त्व सर्वथा कलाशून्य (निष्कल) होता है ॥४३॥

अहंशब्दः स्वामिवाची स्वामी साक्षी तु चेतसः।
अतोऽहंमिति शब्देन चिन्मात्रं प्रोच्यते बुधैः ॥४४॥

अहं शब्द स्वामित्व के अर्थ को प्रकट करने वाला है; और चित्त का द्रष्टा साक्षी उसका मालिक अहं नाम से व्यवह्रियमाण स्वामी ही होता है। इसीलिए विद्वान् लोगों के द्वारा चिन्मात्र आत्मज्योति "अहं" इस शब्द के द्वारा पुकारी जाती है। अर्थात् विद्वान् लोग केवल आत्मज्योति को ही अहं शब्द से पुकारते हैं। भाव यह है कि ज्ञानी लोग आत्म तत्त्व का ही अहं के अर्थ के रूप में प्रयोग करते हैं ॥४४॥

सर्वेश्वरः सर्ववेत्ता सर्वकर्त्ताऽद्वयः पुमान्।
सामान्यादुच्यते यद्वद् राजा सर्वनराधिपः ॥४५॥

जिस प्रकार राजा सभी मनुष्यों को अधिकृत करके पालन करने वाला सर्वनराधिप कहा जाता है। उसी प्रकार से पुरुष तत्त्व भी सब को यथा तथा अन्यथा करने में समर्थ होने से ही सब से विशिष्ट आठों ऐश्वर्यों की परम सीमा स्वरूपी सर्वेश्वर कहलाता है। इसी तरह सबको सही-सही स्वरूप से जानने वाला होने के हेतुवश सर्ववेत्ता भी कहा जाता है। बिना आत्म तत्त्व की साक्षी के गुणों की स्वरूप प्रक्रियाएँ प्रकाश, प्रवृत्ति एवं नियमन नहीं होती हैं; केवल चेतन तत्त्व की साक्षी में ही सब कुछ होता है। प्रतिबिम्बन सामर्थ्य से "गुणकर्तृत्वेऽपि कर्तेव भवत्युदासीनः" कर्तृत्व वस्तुतः गुणों में ही होने पर भी चेतन को ही सर्वकर्त्ता कहा जाता है। पुरुष तत्त्व, चेतन तत्त्व सभी परस्पर

समान होते हैं। अतः एक जातीय होने के नाते "जातावेकवचनम्" सूत्र के अनुसार अद्वैत का प्रतिपादन करते हुए पुरुष तत्त्व को एक ही वतलाया जाता है।

वैसे आत्मज्योति स्वरूप से ईश्वर कोई पृथक् तत्त्व नहीं है। किन्तु आठों ऐश्वर्यों की परम सीमा से विशिष्ट अन्तःकरण की उपाधि को धारण करने वाला आत्मा ही ईश्वर कहलाता है। यह सांख्य दर्शन सम्मत है ऐसा श्रीराम शंकर भट्टाचार्य मानते हैं। अन्यथा वेदान्त सम्मत ईश्वर तो जीवात्माओं की समष्टिस्वरूप होता है ।।४५।।

आत्माद्वैतस्य सूत्रेण, जातिमात्रेण वर्णनात् ।
प्रलये हि विजातीय—द्वैतशून्यत्वमात्मनाम् ।।४६।।

सांख्य षडध्यायी के प्रथम अध्याय के एक सौ चौपनवें सूत्र द्वारा "नाद्वैत श्रुतिविरोधो जातिपरत्वात्" अर्थात् पुरुष बहुत्व के सिद्धान्त से अद्वैत आत्म तत्त्व का प्रतिपादन करने वाली श्रुति का विरोधी नहीं है; क्योंकि उन श्रुतियों ने जातिपरक अद्वैत का प्रतिपादन किया है। इसीलिए यहाँ विज्ञानभिक्षु ने लिखा है कि—सांख्यसूत्र द्वारा जाति मात्र से आत्मा की अद्वैतता का वर्णन किया है। इसीलिए यह स्पष्ट है; कि सुनिश्चित रूप से प्रलय के समय में प्रलय हो जाने पर सभी आत्माओं की विजातीय द्वैतशून्यता हो जाती है। अर्थात् केवल आत्माएँ ही अवशिष्ट रह जाती हैं। किन्तु आत्माओं के सजातीय द्वैत का निषेध नहीं किया गया है। क्योंकि सभी आत्माओं का व्यक्तिगत पारस्परिक भेद होता ही है ।।४६।।

असङ्गत्वान्नित्यशुद्धो, नित्यबुद्धश्च चित्त्वतः ।
नित्यमुक्तस्तथा नित्यनिर्दुःखत्वात् पुमान् मतः ।।४७।।

"असंगो ह्ययं पुरुषः" बृहदारण्यकोपनिषद् (४/३/१६) के अनुसार तथा सांख्य षडध्यायी के प्रथम अध्याय के पन्द्रहवें "असंगोऽयं पुरुष इति" इस सूत्र के अनुसार चेतन तत्त्व (आत्मा) को (पुरुष तत्व को) असङ्ग माना गया है। और असङ्ग होने के हेतुवश ही जो बुद्धयादि के सुख दुःख मोहों का प्रतिविम्बन सामर्थ्य से चेतन में आरोप किया जाता है वह सर्वथा अवास्तविक है अर्थात् चेतन में सुखादि केवल आरोपित होते हैं; वे वस्तुतः होते नहीं हैं। इसीलिए चेतनतत्त्व नित्यशुद्ध ही कहलाता है वास्तव में आत्मा कभी भी किसी भी प्रकार के कर्मों के वन्धनों में नहीं पड़ती है। वे तो केवल लिंगशरीर के ही हैं। जिस प्रकार शीशे में कई चेहरे प्रतिविम्वित होते रहते हैं। फिर भी शीशा सर्वथा शुद्ध ही रहता है। किसी भी स्वरूप से किंचित मात्र भी कोई भी स्वरूप उसमें समासक्त नहीं होता उसके सामने आने वाली वस्तुएँ प्रतिबिम्वित होती रहती हैं। किन्तु वह हमेशा एक रूप ही रहता है। उसी प्रकार से

विषयाकाराकारित बुद्धि के प्रतिबिम्बित होने पर लगता तो है कि आत्मा भी विषयाकाराकारित हो गया है। किन्तु पारमार्थिक रूप से वह हमेशाँ शुद्ध ही रहता है। भले ही हमें उसमें अशुद्धि की भ्रान्ति कभी-कभी होती रहे; परन्तु वह तो सर्वथा नित्यशुद्ध ही होता है। चैतन्य होने के हेतुवश चैतन्य में तो ज्ञानमय होने की वजह से अज्ञान का लेशमात्र भी नहीं होता है। इसीलिए वह नित्यबुद्ध होता है। केवल अविद्या के प्रभाव से जो अज्ञान की अनुभूति होती है; वह सर्वथा लिंगशरीर मात्र की है। चिज्ज्योति में तो केवल चिन्मात्रता होने के कारणवश उसकी कोई गुंजाइश ही नहीं। इसी तरह से बन्धमोक्ष भी चेतन तत्त्व पुरुष के पारमार्थिक रूप से नहीं होते हैं। लिखा भी है कि – "तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरित बध्यते मुच्यते च केवलं नानाश्रया प्रकृतिः ॥" अर्थात् चेतन तत्त्व बन्धन में नहीं पड़ता है; और जो बन्धन में ही नहीं पड़ना हो तो उसके मुक्त होने का प्रश्न ही नहीं। एक योनि से दूसरी योनि में तथा एक लोक से दूसरे लोक में गति भी आत्मा की नहीं होती है। ये सभी प्रक्रियाएँ अनेकाश्रय वाली प्रकृति में ही होती रहती हैं। इसी तरह "रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥" इस कारिका द्वारा भी स्पष्ट किया गया है; कि—धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य इन सात स्वरूपों के द्वारा प्रकृति स्वयं अपने आपको बन्धन में डालती है। तथा एक मात्र ज्ञान के द्वारा मुक्त करती है। इस तरह सुस्पष्ट है; कि— पुरुष तत्त्व को नित्यमुक्त ही माना जाता है। दुःख तो केवल रजोगुण का ही स्वरूप है। अतः निर्गुण पुरुष तत्त्व सर्वथा निर्दुःख ही होता है। और इसी तरह गुणों से बनने वाली वस्तुएँ ही बिगड़ती हैं परन्तु जो बना ही नहीं हो, वह बिगड़ेगा कैसे ? इसीलिए पुरुष तत्त्व को सर्वथा नित्य माना जाता है ॥४७॥

इत्यादिगुरुशास्त्रोक्तदिशा स्वानुभवेन च।
वैधर्म्यादात्मनोऽनात्मविवेकः क्रियतां बुधैः ॥४८॥

इत्यादि प्रकार से गुरुजनों के उपदेशानुसार तथा शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित दृष्टि से और अपने अनुभव के द्वारा विद्वान् लोगों को आत्मा और अनात्मभूत प्रकृति इत्यादि जड़ तत्त्वों के पारस्परिक वैधर्म्य के कारणवश विवेकज्ञान करना चाहिए। सांख्यकारिका में वैधर्म्य को स्पष्ट किया गया है कि— "त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि। व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ अर्थात् प्रकृति एवं महदादि तत्त्व त्रिगुणात्मक हैं; जबकि पुरुष निर्गुण है। प्रकृति एवं प्राकृत तत्त्व जड़ हैं; अतएव वे विवेक शून्य होते हैं। किन्तु चेतन तत्त्व ज्ञ कहलाता है। अतएव वह विवेकज्ञान

सम्पन्न होता है। प्रकृत्यादि भोग्य हैं; और व्यावहारिक दृष्टि से पुरुष तत्त्व प्रतिबिम्बन सामर्थ्य से भोक्ता होता है। पुरुष तत्त्व की तुलना में भोग्य होने के हेतुवश प्रकृत्यादि साधारण माने जाते हैं। किन्तु वह पुरुष तत्त्व इन सभी में विशिष्ट असाधारण माना जाता है। प्रकृत्यादि से सृष्टि प्रक्रिया चलती है; किन्तु पुरुष तत्त्व से कोई तत्त्वान्तर उत्पन्न नहीं होता है। अतएव प्रकृत्यादि प्रसवधर्मी कहलाते हैं किन्तु पुरुषतत्त्व अप्रसवधर्मी होता है। इस तरह पुरुष तत्त्व एवं प्रकृति तथा महदादि सभी प्राकृत तत्त्वों में सर्वथा वैधर्म्य होता है। और इसी वैधर्म्य के हेतुवश जड़ चेतन का पारस्परिक भेद है। इस प्रकार के दोनों की वैशिष्टयों को सही-सही स्वरूप से समझ लेने पर जो ज्ञान होता है वही ज्ञान विवेकज्ञान कहलाता है "विविच्य ज्ञानं क्रियते तदेव विवेकज्ञानम्" अर्थात् विश्लेषण करके याथातथ्येन जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वही ज्ञान विवेकज्ञान होता है और वही विद्वानों को पाना चाहिए ।।४८।।

परिच्छेदचतुष्केण पुम्प्रकृत्योः सुविस्तरात् ।
वैधर्म्यगण उक्तोऽयं ध्यायिनामाशु मुक्तिदः ।।४९।।

इस तरह सांख्यसार ग्रन्थ के उत्तर भाग में स्थित द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम इन चारों परिच्छेदों के द्वारा पूरे विस्तारपूर्वक प्रकृति एवं पुरुष तत्त्वों के पारस्परिक वैधर्म्यों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। जो ध्यान करने वाले योगी लोगों को अतिशीघ्र मोक्ष प्रदान करने वाला है। अर्थात् यही तत्त्वज्ञान है; और इसी का ध्यानपूर्वक साक्षात्कार कर लेने पर योगियों को तत्काल मोक्ष प्राप्त हो जाता है। अर्थात् जीवन्मुक्ति प्राप्त हो जाती है। फिर प्रारब्ध कर्मों के पूर्ण होने या नैकविध निर्माणचित्तों द्वारा नैकधा प्रारब्ध भोगों को यथाशीघ्र पूर्ण कर लेने पर योगियों को जब वे चाहें तभी मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

इति श्रीविज्ञानभिक्षुविरचिते सांख्यसारे आत्मवैधर्म्यगणपरिच्छेदः ।

इस तरह से श्री विज्ञानभिक्षु द्वारा बनाये गए सांख्यसार नामक ग्रन्थ में आत्म तत्त्व के (अनात्म तत्त्वों) प्रकृत्यादि चौबीस तत्त्वों से भिन्न धर्मता के समुदाय का प्रतिपादन करने वाला सांख्यसार के उत्तर भाग का पाँचवाँ परिच्छेद परिपूर्ण हुआ।

षष्ठः परिच्छेदः

विवेकमेव सद्युक्त्या मत्वा तदनुभूयते ।
राजयोगं यथा कुर्य्यात् समासेन तदुच्यते ॥१॥

विवेक ज्ञान को ही अच्छे तर्कों द्वारा युक्तिपूर्वक मनन करके मानकर उसका अनुभव किया जाता है। राजयोग जैसे किया जाय उसी को संक्षेप से बतलाया जाता है।

योग चार प्रकार का स्वीकृत किया गया है। १. मन्त्रयोग २. लययोग ३. हठयोग ४. राजयोग ये चारों भेद योग के हैं। योगतत्त्वोपनिषद् में लिखा है कि—

योगो हि बहुधा ब्रह्मन्, भिद्यते व्यवहारतः ।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः ॥

अर्थात् व्यावहारिक दृष्टि से योग के बहुत से भेद होते हैं। याने चार भेद होते हैं। वे है मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग एवं राजयोग।

योगचिन्तामणि में राजयोग का स्वरूप बतलाया गया है कि—"न तत्र किञ्चिद् वेद्यं संप्रज्ञायते इति असंप्रज्ञातः समाधिः। अयं निर्बीज इति निर्विकल्प इति निरालम्ब इति राजयोग इति चोच्यते" भाव यह है कि असम्प्रज्ञात समाधि को ही निर्बीज समाधि, निर्विकल्प समाधि, निरालम्ब समाधि और राजयोग कहते हैं। यानी असम्प्रज्ञात समाधि का ही नामान्तर राजयोग है। इसी राजयोग की प्रक्रिया संक्षेपतः यहाँ बतलायी जा रही है ॥१॥

अशक्तो राजयोगस्य,हठयोगेऽधिकारवान् ।
वासिष्ठे हि वसिष्ठाय, भुसुण्डेनैवमीरितम् ॥२॥

राजयोग अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि लगाने में असमर्थ व्यक्ति ही हठयोग की साधना में सर्वथा अधिकारी माना जाता है। योगवासिष्ठ में महर्षि वसिष्ठ को योगाचार्य श्री भुसुण्ड ने इस प्रकार बतलाया है। योगोपनिषद् (५/३) की व्याख्या में ब्रह्मयोगी ने व्याख्या में स्पष्ट किया है; कि—"योगाचार्यैःभुसुण्ड-प्रभृतिभिः मन्त्र-लय-हठ-राज-भावना-सहज-योगसम्प्रदायभेदेन" इत्यादि प्रघट्टक में योगाचार्यों में प्रमुख भुसुण्ड का नाम लिया है। और आगे प्रभृति शब्द का प्रयोग किया है। योगाचार्य भुसुण्ड आदि योगाचार्यों ने तो मन्त्रयोग, लययोग हठयोग, राजयोग, भावनायोग और सहजयोग नाम से योग सम्प्रदायों का उल्लेख किया है ॥२॥

ज्ञानावृत्ती राजयोगे, प्राणायामासने हठे ।
मुख्ये तेऽङ्गतयाऽन्योऽन्यं, सेव्ये शक्त्यनुसारतः ॥३॥

राजयोग में तत्त्वज्ञान एवं निर्वृत्तिकता मुख्य रूप से होते हैं, तथा प्राणायाम एवं आसन गौण होते हैं। किन्तु हठयोग में प्राणायाम एवं आसन मुख्य रूप से किये जाते हैं। और गौणरूप से कुछ तत्त्वज्ञान तथा कभी-कभी निर्वृत्तिकता की भी अनुभूति हो जाती है। सभी साधकों को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार इनका सेवन करना ही चाहिये ॥३॥

विषयेऽनन्तदोषा ये श्रुतिस्मृतिसमीरिताः ।
त आदौ परिद्रष्टव्याः चिरःस्थैर्य्याय योगिभिः ॥४॥

वेदों तथा स्मृतियों के द्वारा सम्यक् प्रकार से प्रतिपादित जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध स्वरूप विषयों में अनन्त एवं असंख्य दोष हैं। अपने-अपने चित्त की स्थिरता के लिए योगियों द्वारा वे सभी दोष हर तरह से देख लिये जाने चाहिए। अर्थात् विषयों के अनन्त दोष पूर्ण होने से उनसे सर्वथा विरक्ति हो जाने के हेतुवश चित्त विषयों की ओर से सर्वथा विमुख होकर योगाभ्यास में स्थिर हो जाता है। इस प्रकार से विषय पराङ्मुखता एवं सर्वथा अनासक्ति से ही चित्त स्थिर हो सकता है ॥४॥

कामबीजान्यनन्तानि, सम्प्ररोहन्ति यद्धृदि ।
तत्राटवीनिभे ज्ञानपुण्यशस्यं न वर्द्धते ॥५॥

जिस हृदय में नैकविध काम स्वरूपी अनन्त बीज अंकुरित होते हैं। वहां उस जंगल की तरह वीरान हृदय में तत्त्वज्ञान रूपी पवित्र हरा अनाज नहीं बढ़ता है। भाव यह है कि जब तक नैकविध ईच्छायें सताती रहती हैं। तब तक तत्त्वज्ञान नहीं हो पाता है अतएव गीता में भी कहा है; कि—जहि शत्रुं महावाहो कामरूपं दुरासदम्" यानी हे अर्जुन बड़ी मुश्किल से पकड़ में आ सकने वाले कामरूपी शत्रु को यथाशीघ्र नष्ट कर दो। कहने का भाव यह है कि—तत्त्वज्ञानाधिगति हेतु काम परित्याग नितान्त आवश्यक है ॥५॥

दोषदृष्ट्यग्निसन्दग्धे, कामबीजे तु चेतसि ।
गुरुशास्त्रहलैः कृष्टे सुक्षेत्रे तद् विवर्द्धते ॥६॥

विषयों की नैकविध कामना से चित्त स्थिर नहीं हो सकता है और योग-मार्ग में अग्रसर नहीं हो सकता है इसीलिये विषयों एवं उनकी नैकविध कामनाओं में अनन्त दोष देखने रूपी अग्नि से निखिल काम बीजों को जला डालने वाले चित्त में गुरु के वचन एवं शास्त्र रूपी हलों द्वारा ठीक तरह से जोते हुए अच्छे चित्त रूपी खेत में वह तत्त्वज्ञान रूपी पवित्र अनाज के पौधे खूब अच्छी तरह बढ़ते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार से अपद्रव्यों के रहने पर फसल नहीं पनपती है अतः कूड़े करकट रूपी अपद्रव्यों को खेत में जला दिया जाता है। तथा अच्छी तरह अच्छे हलों से उसे जोत लिया जाता है। तब उस अच्छे संशोधित खेत में अनाज पेरने पर वह अनाज खूब फलता फूलता है। उसी प्रकार से कामवीज में अनेक दोषों के ज्ञान हो जाने पर नैकविध विषय विषयक नैकविध कामनाओं का सर्वथा परित्याग कर देने पर गुरुजनों के सदुपदेशामृत का पान करने से तथा सच्छास्त्रों का अनुशीलन करने से परम पवित्र तत्त्वज्ञान अवश्य हो जाता है ॥६॥

सत्येष्वसत्तां प्रचुरां, तथा रम्येष्वरम्यताम् ।
सुखेषु प्रचुरं दुःखम्, पश्यन् धीरो विरज्यते ॥७॥

धैर्यपूर्वक साधना में तत्पर रहने वाला साधक संसार में सत्य रूप से स्वीकृत नैकविध वस्तुओं में असद्भाव को तथा संसार में लुभावनी लगने वाली विषयात्मक निखिल वस्तुओं में पारमार्थिक रूप से विद्यमान रहने वाले असौन्दर्य को देख लेता है। सांसारिक नैकविध सुखों में अक्षिपात्र कल्प दृष्टि वाला होने के हेतुवश वह सूक्ष्म रूप से स्थिर रहने वाले रजोगुण की सत्ता के प्रभाव से पर्य्याप्त रूप से होने वाले दुःख का साक्षात्कार करता हुआ इन सभी से सर्वथा विरक्त हो जाता है ॥७॥

ब्रह्मलोकोऽपि नरको विनाशामेध्यपूरितः ।
युक्तश्च स्वाधिकैरन्यैः त्रैगुण्यादपि दुःखयुक् ॥८॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।'' इत्यादि गीता के वचनानुसार ब्रह्मलोक पर्य्यन्त सद्गति प्राप्त करने वाले प्राणियों को तो वापिस लौटना पड़ता है। आत्यान्तिक दुःखनिवृत्ति नहीं होने के हेतुवश और ब्रह्मलोक भी विनाश एवं अपवित्रता से पूर्ण होने के हेतुवश भी नरक की तरह होने से आपेक्षिक रूप से नरक ही माना जाता है। क्योंकि यज्ञों में बीजावहनन और पशुहिंसादि स्वरूप अपवित्रता रहती है। इसके अलावा यज्ञ सात्विक, राजस और तामस होते हैं। और गुणों के सर्वथा परस्पर सहयोग से ही प्रकाश प्रवृति एवं स्थिति कार्य सम्पन्न करने के हेतुवश ब्रह्मलोक पर्य्यन्त की स्थिति त्रिगुणात्मक ही होती है। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'' पुण्य क्षीण हो जाने पर ब्रह्मलोक तक के प्राणी वापिस मृत्युलोक में आ जाते हैं। सबके पुण्य की मात्रा समान नहीं होती है। अतः कोई तो वहां अधिक सुखाभासमय सुख की अनुभूति करता है; और कोई उससे कम; और जिसे अपने कम पुण्य के कारण सुख कम मिलता है; वही व्यक्ति अपने से

अधिक सुख सम्पन्न लोगों को देख कर ईर्ष्यावश विशेष दुःखी होता है। महाभारत में भी लिखा है कि—

स्कर्गकामो यजेतेति श्रूयते सततं श्रुतिः।
फलं प्रकुल्प्यापूर्वं हि ततो यज्ञः प्रवर्त्तते॥
अत्रापि च विशेषोऽस्ति, दिवी नीचोच्चमध्यमाः।
न तत्राप्यस्ति सन्तोषो दृष्ट्वा दीप्तां परश्रियम्॥
कृतस्य कर्मणः स्वर्गे भुज्यते कर्तृभिः फलम्।
न चान्यत् त्रियते कर्म मूलोच्छेदेन भुज्यते॥
सुखव्याप्तमनस्कानां सहस्ताभ्यागतापदम्।
संज्ञामोहश्च पततां रजसां च प्रधर्षणम्॥
प्रम्लानेषु च माल्येषु ततः पिपतिषोर्भयम्,
आब्रह्मभुवनादेते, दोषा ब्रह्मन् सुदारूणाः।
स्वर्गभाजः प्राप्नुवन्ति तस्मात् स्वर्गं न कामयेत्॥

यद्यपि ब्रह्मलोक ब्रह्मलोक ही है; वह तो नरक नहीं हो सकता। यदि सर्वथा नरक ही होता तो उसका ब्रह्मलोकत्वेंन व्यपदेश ही क्यों होता? किन्तु यहाँ दुःखादि दोष विशिष्टता रूपी साजात्य सम्वन्ध से ही ब्रह्मलोक को भी नरक कहा गया है। क्योंकि मात्रा में भले ही भेद हो किन्तु विनाश अपवित्रता, अपने से विशिष्ट अन्य आत्माओं की सत्ता व त्रैगुण्यविशिष्टता के हेतुवश दुःखादि दोषयुक्तता तो होती उभयत्र ही है। इसीलिए ब्रह्मलोक को भी अक्षिपात्र कल्प योगी की दृष्टि में "सर्वं दुःख विवेकन ? के सिद्धान्तानुसार नरक कहा गया है। यह स्पष्टतः समझ लेना चाहिए॥८॥

तत्रस्थैरपि मुक्त्यर्थं यत्यते जन्मभीरुभिः।
अतो ज्ञेयः समासेन लोकः सर्वोऽपि दुःखयुक्॥९॥

ब्रह्मलोकादि लोकों में रहने वाले प्राणियों द्वारा भी पुनः जन्म न हो जाय इस भय से डरते हुए मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया जाता है। इसलिए संक्षेप में यह सुस्पष्टतया समझ लेना चाहिए कि सभी लोक दुःख से युक्त हैं। कहीं दुःख समधिक है; तो कहीं कम। किन्तु दुःखानुस्यूतता तो निखिल लोक मण्डल की समभाव से होती है अतः सभी को दुःखयुक्त वतलाया गया है॥९॥

इदं मे स्यादिदं मा स्याद् इतीच्छाव्यथितं मनः।
स्वाभावात् तेन विज्ञेयं दुःखं चित्तेन सङ्गतिः॥१०॥

यह वस्तु मेरे हो यह वस्तु मेरे न हो इस प्रकार की इच्छाओं से मन

दुःखी रहता है। आत्मा को स्वानुभूति नहीं होने से स्वभावतः चित्त के साथ सम्पर्क होता है और उसी से दुःख है ऐसा समझ लेना चाहिए क्योंकि चित्त सत्त्वगुण विशिष्ट होते हुए भी त्रिगुणात्मक है और त्रिगुणात्मक होने से उसमें रजोगुण की सत्ता स्वाभाविक है ही अथ च रजोगुण की सत्ता से स्पष्ट है कि दुःख की सत्ता है ही; क्योंकि रजोगुण को तो स्पष्टतः अप्रीत्यात्मक अर्था दुःख-स्वरूप ही वतलाया गया है ॥१०॥

सुखं सुषुप्तिः परमा दुःखं विषयवेदनम् ।
सुखदुःखसमासोऽयं किमन्यैर्बहुभाषितैः ॥११॥

प्रगाढ़ निद्रा स्वस्वरूपा सुषुप्ति ही सर्वोत्कृष्ट सुख है तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध स्वरूपी निखिल विषयों की अनुभूति करना ही दुःख है। सङ्क्षेपमेंसुख एवं दुःख का यही प्रतिपादन है। और लम्बे चौड़े दूसरे बहुत से भाषणों से क्या ? अर्थात् इससे विशिष्ट अन्य कोई सुख दुःख का वर्णन नहीं हो सकता ॥११॥

तस्मादनर्थान् अर्थाभान् परीक्ष्य विषयान् सुधीः ।
उत्सृजेत् परमार्थार्थी बालरम्यानहीनिव ॥१२॥

अर्थ्यंते सोऽयं अर्थः इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्राणि मात्र के द्वारा चाहे जाने वाले धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष सर्वेप्सित होने के हेतुवश अर्थ कहलाते हैं। इनमें भी सर्वोत्कृष्ट होने के हेतुवश मोक्ष ही परमार्थ कहलाता है। उस सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य मोक्ष को चाहने वाला प्राणी सर्पों की तरह स्वभावतः सुहावने एवं बाह्य रूप से लुभावने लगने वाले धर्मार्थ-काममोक्षों की तरह प्रतीत होने वाले इन सम्पूर्ण शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्धात्मक विषयों को श्रेष्ठ बुद्धि वाला प्राणी अच्छी तरह परीक्षित करके परित्यक्त कर दे। क्योंकि वे विषय लक्ष्य की तरह प्रतीत भले ही हों किन्तु वस्तुतः वे लक्ष्य कथञ्चिदपि नहीं हैं।

कहने का भाव यह है; कि - मोक्ष चाहने वाले व्यक्ति को इन विषयों के चाकचक्य में नहीं फँस करके तथा इनका सर्वथा परित्याग करके मोक्ष प्राप्त करना चाहिए। और यह सुस्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए ; किन्तु हमारा लक्ष्य ये विषय नहीं है। अपितु मोक्ष ही है। यद्यपि सांसारिक विषय वासना का चाकचक्य लगता ऐसा ही है कि मानो वही हमारा वास्तविक लक्ष्य ही और वस्तुतः ऐसा मानकर अनेक प्राणी नैकधा इन्हीं की प्राप्ति के लिए श्रान्त होकर स्वजीवन को व्यर्थ कर देते हैं। तथा न वे इन्हें पा ही सकते हैं और यदि कदाचित् पा भी लेते हैं ; तो इन्हीं से त्रिगुणात्मक होने के कारण रजोगुण के प्रभाव से दुःख अवश्य पाते हैं। अतः सर्वथा मोक्ष को ही लक्ष्य मानकर

स्वकर्त्तव्य परायण होना चाहिए एवं विषय सुखों को छोड़कर परम सुख को प्राप्त करना चाहिए ॥१२॥

इत्यादिकानन्तदोषदृष्टया रागस्य तानवे ।
मायाविवेकतः शुद्धं आत्मानं चिन्तयेत् सदा ॥१३॥

निखिल विषयों में उपर्युक्त एवं इसी प्रकार अनन्त दोषों की स्थिति के अनुभव वाली दृष्टि से शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध स्वरूपी विषयों के प्रति जो आसक्तिमय राग रहता है ; उसके हल्के फुल्के हो जाने पर, अर्थात् प्रायः राग के क्षीण हो जाने पर, हमेशाँ माया से सर्वथा अलग करके शुद्ध आत्म तत्त्व का चिन्तन करे ॥१३॥

इदं तदिति निर्देष्टुं गुरूणापि न शक्यते ।
उदासीनस्यात्मतत्त्वं स्वमेव प्रकाशते ॥१४॥

शक्यतावच्छेदक धर्मादिकों का अभाव होने के हेतुवश, और शब्द का भी अगोचर होने के कारण, गुरु के द्वारा भी सुस्पष्ट रूप से यह नहीं बतलाया जा सकता है ; किं यही वह आत्मस्वरूप है । किन्तु इतना निश्चित है ; कि सम्पूर्ण संसार की विषयवासना से सर्वथा उदासीन हो जाने वाले तटस्थ तत्त्वज्ञानी के समक्ष आत्मतत्त्व स्वयं ही प्रकट हो जाता है ।

कहने का भाव यह है कि आत्म तत्त्व का साक्षात्कार सामान्यतः किसी के द्वारा नहीं कराया जा सकता ; अपितु सांसारिक विषय मात्र से उदासीन रहने वाले तत्त्वज्ञानी मुमुक्षु के मस्तिष्क में अपने आप ही आत्म तत्त्व का प्रकाश हो जाता है ॥१४॥

बुद्धिबोधात्मको बुद्धिसाक्षी बुद्धेः परो विभुः ।
कूटस्थोऽहं चिदादित्य इत्येकाग्रोऽनुचिन्तयेत् ॥१५॥

एकाग्र चित्त होकर ऐसा चिन्तन न करे ; कि—मैं आत्मा रूपी सूर्य स्वयं प्रकाशी हूं । बुद्धि के बोध स्वरूप वाला, बुद्धि का साक्षी, बुद्धि से परे रहने वाला, व्यापक आत्मज्योति, हमेशाँ हर स्थिति में हर समय में एक ही सुनिश्चित रूप से सुस्थिरतया रहने वाला कूटस्थ नित्य तत्त्व मैं ही हूं ॥१५॥

वृत्तिबोधो घटच्छिद्रमिव नाश्यल्प ईक्ष्यते ।
वस्तुतो वृत्तिबोधोऽहं पूर्णो व्योमवदक्षयः ॥१६॥

वृत्तियों की शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धता से विशिष्ट बोध तो घड़े के छिद्र की तरह नष्ट होने वाला और स्वल्पतम देखा जाता है । किन्तु मैं घट विषयक ज्ञानवान् हूं; इस प्रकार की अनुभूति का ज्ञान होता है । और यह घड़ा है ; यह वृत्ति का स्वरूप है । वास्तव में उपाधि सम्बन्ध से शून्य यह वृत्तिबोध

वृत्ति को प्रकाशित करने वाला अहं स्वरूप परिच्छेदशून्य और नित्य होता है। क्योंकि वह परिपूर्ण एवं आकाश की तरह कभी नष्ट नहीं होने वाला होता है ।।१६।।

अन्तर्यद् दृश्यते सर्वं, तद् बुद्धेर्वृत्तिरुच्यते ।
तेभ्यो दुःखात्मकेभ्योऽहं साक्षात्तद्वीक्षिता पृथक् ।।१७।।

अन्तःकरण में जो कुछ भी दिखाई देता है ; या देखा जाता है। वह सब कुछ बुद्धि की वृत्ति ही कहलाता है। उन दुःखस्वरूप सभी स्थितियों से भिन्न रहने वाला पुरुष तत्त्व आत्मज्योति ही उसका साक्षात्कार करने वाली है। अर्थात् वृत्ति के माध्यम के विना ही उस बुद्धिवृत्ति का साक्षाद्द्रष्टा चेतन तत्त्व उनसे सर्वथा पृथक् ही होता है ।।१७।।

कर्मकर्त्तृविरोधो हि, वृत्त्या वृत्तिप्रकाशने ।
वृत्तिधाराकल्पने च गौरवादिति निश्चितम् ।।१८।।

यदि वृत्ति को स्वयं प्रकाशित होने वाली माना जाय ; तो स्वयं ही कर्त्ता और स्वयं ही कर्म हो जाय। और ऐसा एककालावच्छेदकत्वेन एक वस्तु निष्ठ हो ही नहीं सकता है। इस तरह से कर्मकर्तृविरोध उपस्थित हो जाता है। और यदि ऐसा माना जाए कि वृत्ति से सम्बन्ध रखने वाली दूसरी वृत्ति उस वृत्ति को प्रकाशित करती है। तो ऐसी स्थिति में अनवस्था दोष हो जाता है। क्योंकि वृत्तियों का कोई न कोई तो मूल प्रकाशक होगा ही। अन्यथा एक वृत्ति दूसरी वृत्ति से दूसरी वृत्ति तीसरी वृत्ति से प्रकट हुई ऐसा मान लेने में वृत्ति धारा की कल्पना होगी तथा इस तरह कोई न कोई मूलवृत्ति तो माननी ही पड़ेगी जिसके निरोध की आवश्यकता हमेशाँ बनी रहती है। यह तथ्य सुनिश्चित है ।।१८।।

हर्षशोकभयक्रोध, लोभमोहमदैस्तथा ।
द्वेषाभिमानकार्पण्यनिद्रालस्यस्मरादिभिः ।।१९।।

धर्माधर्मैश्च सम्पूर्णा बुद्धिर्दुःखमयी तु मे ।
आत्मानं दर्शयत्येव भास्करायेव रोगिणः ।।२०।।

प्रसन्नता, मानसिक कष्ट, किसी से भी किसी भी तरह का कष्ट होने की आशंका से होने वाला डर, आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं होने पर या अपनी ईच्छा के विपरीत स्थिति होने पर चित्तवृत्ति में तमोगुण के प्रभाव से उपस्थित होने वाली बोधावरण स्वरूपता चित्त की स्थिति विशेष (गुस्सा) नियमानुसार स्वकृतकर्म के फलस्वरूप जो कुछ मिलता है ; उससे सन्तुष्ट नहीं होकर हमेशाँ अधिक से अधिक प्राप्त करने की भावना (लालच), अज्ञानजन्य आसक्ति,

झूंठे अहंकार के कारण अपने आपको बहुत कुछ समझने के कारण वस्तुस्थिति को समझने के लिए शून्यतामयी उन्मत्तता, अनभीष्ट वस्तु से सर्वथा दूर रहने की भावना के कारण उसे सर्वथा दूर रखने या उसे सर्वथ्त नष्ट कर देने की भावना (द्वेष), घमण्ड, कृपणता, नींद, आलस्य, कामवासना, पुण्य, पाप इत्यादि से सर्वथा परिपूर्ण वुद्धि स्वयं दुःखस्वरूप है और वह स्वयं अपने आपको चेतन के समक्ष प्रस्तुत करती है। जिस प्रकार से सम्पूर्ण संसार को प्रकाशित करने वाले भगवान् सूर्य नारायण के समक्ष रोगी लोग आरोग्य की कामना से अपने आपको प्रस्तुत करते हैं। क्योंकि लिखा भी है कि—"आरोग्यं भास्करादिच्छेत्" अर्थात् सर्वथा स्वस्थता भगवान् सूर्य नारायण की उपासना से ही समुपलब्ध हो सकती है। अतः तदर्थ उसी की उपासना करके सर्वथा स्वस्थता प्राप्त करनी चाहिए। उसी प्रकार से धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य इन सात स्वरूपों से नैकधा वन्धन में पड़ना सम्भव है। तथा एकमात्र ज्ञानस्वरूप के द्वारा ही सभी वन्धनों से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। इसीलिए तदर्थ आत्मा की शरण लेना परमावश्यक होता है ॥१६-२०॥

अहं सर्वगतं शान्तं, परमात्मघनं शुचि ।
अचिन्त्यचिन्मात्रनभो विश्वदर्पणमक्षयम् ॥२१॥

मैं इस स्वरूप से सभी के द्वारा अनुभूयमान सवमें व्याप्त रहने वाली आत्मज्योति शान्त है वही परमात्मघन है, परम पवित्र है, जिसके विषय में सामान्यतः चिन्तन नहीं किया जा सकता, जो केवल चैतन्याकाश मात्र है। कभी क्षीण नहीं होने वाला सम्पूर्ण सांसारिक लीलाओं का द्रष्टा होने से तथा विषयाकाराकारित विश्वस्वरूपा वुद्धि के प्रतिविम्व को ग्रहण करने वाला होने से विश्वदर्पण कहलाता है ॥२१॥

निरञ्जनं निराधारं निर्गुणं निरुपद्रवम् ।
निर्विशेषं सजातीयात् समस्तार्थविभासकम् ॥२२॥

गुणातीत होने के हेतुवश किसी भी प्रकार से गुणों के द्वारा कृत कर्मों के फलों से सम्पृक्त नहीं हो सकने से निरञ्जन कहलाता है। सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होने से आत्म तत्त्व को किसी के सहारे की भी जरूरत नहीं होती है। वह इसीलिए निराधार कहलाता है। आत्म निर्गुण है। और उसके निर्गुण होने के कारण ही उसमें कभी भी कोई भी उपद्रव नहीं होते। इस आत्म तत्त्व से विशिष्ट अन्य कोई तत्त्व नहीं होने से तथा उसकी गुणधर्मात्मक कोई विशेषता न होने के हेतुवश वह निर्विशेप सजातीय से सम्पूर्ण विषयों का अवभासन करने वाला है। २२॥

ब्रह्मविष्णुमहेशाद्याः स्थावरान्ताश्च चेतनाः ।
अवैधर्म्यात्मकाभेदाद् अहमित्यनुचिन्तयेत् ।।२३।।

अहं इस स्वरूप से नित्य व्यवह्रियमाण आत्म तत्त्व ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर इत्यादि देव स्वरूप तथा स्थावर स्वरूप पर्य्यन्त के सभी चेतन वैधर्म्य के अभाव रूपी एकता के कारण एक ही अवैधर्म्य रूपी अभेद के हेतुवश मैं (अहं) इस स्वरूप से पुकारा जाने वाला, सर्वत्र रहने वाला आत्म तत्त्व एक ही है इस तरह चिन्तन करना चाहिए ।।२३।।

अहमन्ये च पुरुषाः समचिद्व्योमरूपिणः ।
अत आत्मैक एवाहम् इति श्रुतिषु गीयते ।।२४।।

मैं और मेरे ही तरह के सभी पुरुष तत्त्व समान रूप से आत्माकाश-स्वरूपी हैं। इसलिए वेदों में "आत्मा एक ही है।" इस प्रकार से आत्म तत्त्व का गान किया जाता है। अर्थात् आत्मा के जीवात्मा के रूप में प्रत्येक लिंग-शरीर में अलग होने से अनेक होने पर भी साजात्य सम्बन्ध के कारण तथा अवैधर्म्य लक्षणात्मक एकता के कारण वेदों में आत्मा को एक बतलाया जाता है ।।२४।।

इति पश्यन् स्वभोगैश्च योगी विश्वं प्रपूजयेत् ।
आत्मयागोऽप्ययं प्रोक्तः श्रुत्युक्तः सांख्ययोगिनाम् ।।२५।।

इस तत्त्वज्ञान का साक्षात्कार करता हुआ योगी अपने सम्पूर्ण भोगों द्वारा संसार की आराधना करे सांख्ययोगियों का यही वेदोक्त आत्मयाग बतलाया गया है ।।२५।।

सर्वभूतस्थमात्मानम्, सर्वभूतानि चात्मनि ।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ।।२६।।
(मनुः १२/८१)

मनुस्मृति के बारहवें अध्याय के इगहत्तरवें श्लोक में स्पष्ट किया है। कि अपने आपकी आत्म ज्योति को प्राणिमात्र में व्याप्त देखे; तथा सम्पूर्ण प्राणी मात्र को अपने आप में। इस प्रकार प्राणीमात्र में समभाव से व्याप्त रहने वाली आत्मज्योति का साक्षात्कार करता हुआ, आत्मयज्ञ में लगा रहने वाला योगी सर्वतन्त्र स्वतन्त्रता रूपी स्वस्वरूपावस्थिति को प्राप्त कर लेता है ।।२६।।

इत्येवं मनुनाऽप्यात्मयागो ज्ञानाङ्गमीरितः ।
तस्मादभयदानेन स्वभोगाद्यर्चनेन च ।।
सम्मानयन् भूतजातमात्मानमनुचिन्तयेत् ।।२७।।

इस तरह उपर्युक्त प्रकार से मनु ने भी आत्मयज्ञ को ज्ञान का अंग बतलाया है। इसलिए प्राणिमात्र को अपनी ओर से कभी भी कुछ कष्ट नहीं

देते हुए इस अभयदान के द्वारा तथा अपने सम्पूर्ण भोगों का परित्याग करके उन भोगों के द्वारा दूसरे लोगों की पूजा एवं सम्मान करता हुआ आत्मतत्त्व का चिन्तन करे ।।२७।।

ब्रह्मविष्णुशिवादीनां भोगे रागश्च हीयते ।
तेषां स्वसाम्यदृष्ट्यातः साम्यं योगी विचिन्तयेत् ।।२८।।

ब्रह्मा, विष्णु, शङ्कर इत्यादिकों का शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धात्मक सभी प्रकार के भोगमात्र पर आसक्त्यात्मक राग नहीं होता है । इसलिए योगाभ्यास करने वाला योगी भी विषयभोग से विरक्त हो जाने के हेतुवश उनकी अपनी समानता की दुष्टि से निखिल आत्म तत्त्व मात्र में पारमार्थिक रूप से साम्य का चिन्तन करे ।।२८।।

उत्पत्तौ प्रलये चैव सर्वावस्थासु सर्वदा ।
सर्वेषामेकरूपत्वे द्रष्टूरागादिकं कुतः ।।२९।।

सृष्टि के समय में और प्रलय के समय में अर्थात् हमेशां हर स्थिति में सभी आत्म तत्त्वों के परस्पर अभिन्न रूप से एक प्रकारकता होने के हेतुवश सभी की एकरूपता मानी जाती है । ऐसी स्थिति में चेतनआत्मा पुरुष तत्त्व द्रष्टा के रागादि कैसे हो सकते हैं । कथञ्चिदपि उसमें रागादि सम्भव नहीं; उसमें रागादि आयें भी कहाँ से ।।२९।।

विष्ण्वादयो महैश्वर्य्यं भुञ्जाना अपि नाधिकाः ।
मत्तोऽतोऽलं तदैश्वर्य्यैरविवेकजनप्रियैः ।।३०।।

विष्णु इत्यादि दिव्य आत्मा अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व नाम से सुप्रसिद्ध इन आठों ऐश्वर्यों की पराकाष्ठा का भोग करते हुए भी आत्मत्वेन मेरे से अधिक नहीं हैं । इसलिये मूर्ख लोगों को जिन्हें विवेकख्याति नहीं हुई हो ; उन्हींको पसन्द आने वाले इन ऐश्वर्यों से मुझे क्या लेना । मैं इनके विषय में पूर्णकाम हूं । अर्थात् तत्त्वज्ञानी का ऐश्वर्योपभोग से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है ।।३०।।

गुणकर्मादिभिः किञ्चित् निरीक्ष्याधिकमात्मनः ।
तदर्थं यतते लोको नाहं पश्यामि मेऽधिकम् ।।३१।।

अपने आपसे किसी अन्य में अपनी अपेक्षा गुण, कर्म आदि के द्वारा कुछ विशेषता देख करके ही; संसार का हर प्राणी उस विशेषता को प्राप्त करके मैं भी विशिष्ट बन सकूँ; एतदर्थ उस विशेषता को प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है । किन्तु योगी विचार करता है; कि आत्मतत्त्व की दृष्टि से मेरा इस लिंगशरीरावच्छेदकत्वेन जो आत्मा है; इससे अन्य सभी लिंगशरीरों में रहने

वाले भोगारूढ़ आत्माओं ने अथवा जो मुक्त हो गये हों उनमें या जो हों रहे हों, या होने वाले हों उन सभी आत्माओं में भी पारमार्थिक रूप से तो कोई विशेषता नहीं होती है अर्थात् आत्मा के एकरस होने के हेतुवश वह सर्वथा सम ही है अतः मेरे से अधिकता किसी भी अन्य आत्मा में नहीं देखता हूं। और जब विशेषता है ही नहीं; तो फिर उसकी प्राप्ति के लिए कोई प्रयास करना अपेक्षित ही नहीं। इसीलिए तत्त्वज्ञानी पूर्णकाम एवं सर्वथा मस्तराम होता है ॥३१॥

तथा न्यूनं न पश्यामि यदतिक्रमशङ्कया।
देवा दैत्यजयायेव यतिष्ये तज्जयाशया ॥३२॥

इसी तरह से तत्त्वज्ञानी आत्मा सोचता है कि मैं अपने से किसी भी तरह से किसी को भी किसी भी स्थिति में कुछ भी कैसे भी कम हो ऐसे किसी भी आत्मा को नहीं देखता हूं। क्योंकि सभी आत्माओं में सर्वथा समानता है। यदि कोई मेरे से कम होता वह कहीं मेरे से बढ़कर नहीं बन जावे इस आशंका से उसे जीतने की आशा से प्रयत्न करूंगा। जिस प्रकार देवता लोग अपने से न्यून माने जाने वाले दैत्य लोग अपने से विशिष्ट नहीं बन जायें इसी आशंका से उनसे जीतने की आशापूर्वक प्रयत्न करते रहते हैं। भाव यह है; कि कोई भी आत्मा आत्मत्वेन किसी से भी कभी भी कम ज्यादा नहीं होता है। क्योंकि वह तो नित्य, शुद्ध, बुद्ध और स्वभावतः मुक्त है इसी तरह निर्गुण निरञ्जन, निराधार व निराकार भी है वह सर्वथा निर्विकार तथा सर्वथा सर्वदा एक रस ही रहने वाला तत्त्व है। इसीलिए सभी आत्माओं में सर्वथा सर्वदा साम्य ही साम्य रहता है। और इस स्थिति को समझ लेने पर सभी विवाद स्वतः समाप्त हो जाते हैं। तथा परम शान्ति समुपलब्ध होती है ॥३२॥

अहं यथा तथैवान्ये आब्रह्मनारका जनाः।
दृश्यन्ते स्वात्मवत् प्रेम्णा पितृभ्रातृसुतादिवत् ॥३३॥

जैसे मैं हूं वैसे ही ब्रह्मलोकवासी ब्रह्मा से लेकर नरक पर्यन्त के सभी लोकों में रहने वाले सम्पूर्ण प्राणी हैं। अपने पिता, भाई, पुत्र इत्यादि की तरह एवं अपने-आपके जीवात्मा की तरह ब्रह्मलोकवासी ब्रह्मा से लेकर नरकों में रहने वाले सामान्य प्राणी पर्य्यन्त की सभी आत्माओं को सर्वथा स्नेह भाव से देखा जाता है ॥३३॥

क ईश ईशितव्यो वा कः श्रेष्ठः कोऽधमोऽपिवा।
अभिन्ने भेददृष्ट्या स्यान्मृत्योर्भयमिति श्रुतिः ॥३४॥

कौन ईश्वर है? और कौन ईश्वर के अधीनस्थ रहने वाला प्राणी है? कौन श्रेष्ठ है? अथवा कौन निम्नस्तर का नीच प्राणी है? अवैधर्म्यलक्षणात्मक अभेद दृष्टि से एकनिभ निखिल आत्म तत्त्वों में पारस्परिक भेददृष्टि से एकरूप

आत्मा में भिन्न प्रकारकता की बुद्धि से तो मृत्यु लोक में मृत्यु का भय हो जाता है। यह वेद वचन है। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है कि—"द्वितीयाद्वैभयं भवति" (बृहदा १-४-२) "ते मृत्योर्यन्ति विततस्थ पाशम्" (कठोपनिषत् १-३-२) अभिन्न आत्म तत्त्व में भेद की दृष्टि से मृत्यु का भय होता है। यह तथ्य सर्वथा श्रुतिसम्मत है। अतः सर्वथा भेद दृष्टि का परित्याग करना चाहिए ॥३४॥

चिद्व्योमस्वेकरूपेषु ईशानीशादिरूपकः।
रूपभेदो ह्यसन् सर्वः स्फटिके रूपभेदवत् ॥३५॥

जिस प्रकार से शुद्ध स्फटिक मणि के सर्वथा स्वच्छ श्वेत होने पर भी जब लाल, पीला, हरा, गुलाबी आदि किसी रंग का पुष्प या वस्तु उसके समक्ष उपस्थित होती है तो वह स्फटिक मणि वस्तुतः उस रंग की नहीं होने पर भी वैसी ही लाल, पीली, हरी या गुलावी इत्यादि रंग की लगती है। उसी प्रकार से हमेशाँ एकरूप रहने वाले आत्म तत्त्व में भी यह ईश्वर है; यह अनीश्वर है, आदि एकरूप रहने वाले आत्माकाशों में पारस्परिक रूप-भेद झूंठा ही विषयाकाराकारित बुद्धि तत्त्व के उनमें प्रतिविम्वित होने के हेतुवश प्रतीत होता है। किन्तु पारमार्थिक रूप से तो आत्मा सर्वथा स्फटिक मणि की तरह से सर्वथा शुद्ध ही होता है। उसमें कोई ईश्वरत्व अनीश्वरत्वादि भेद नहीं होते हैं ॥३५॥

धियां रूपैःपुमानेको बहुरूप इवेयते।
वृकचर्मादिरूपाद्यै र्मायीव बहुरूपधृक् ॥३६॥

वुद्धियों के अनेक स्वरूपों द्वारा आत्मा भी मानो अनेक स्वरूपों वाला होता है; ऐसा समझा जाता है। जिस प्रकार से वहुरूपिया कभी भेड़िया की चर्म को अपने शरीर पर आवृत्त करके भेड़िया की तरह दीखने लगता है; तो कभी रीछ चर्म से आवृत्त हो रीछ लगने लगता है। इसी तरह कभी राजा की वेशभूषा पहिन कर राजा और कभी रंक की वेशभूषा पहिन कर रंक लगता है। वस्तुतः बहुत से स्वरूप धारण करने वाला होन पर भी बहुरूपिया है तो एक स्वरूप ही; उसी प्रकार से बुद्धियों के नैकविध प्रतीत होने पर भी वास्तव में तो एकरूप ही होता है। इसीलिए "वहुरूप इवेयते" लिखा है। यहाँ इव शब्द से सुस्पष्ट है; कि वहुरूप है तो नहीं; तथापि मानो वहुरूप हो, ऐसा लगता है ॥३६॥

मामालिङ्ग्य निराकारं, विविधाकारधारिणी।
मायैवैका हि नृत्यन्ती, मोहयत्यखिला धियः ॥३७॥

अनेक आकार प्रकार को धारण करने वाली एक मात्र माया ही सर्वथा

आकार प्रकार शून्य मुक्त आत्म तत्त्व का आलिंगन करके नाचती हुई सम्पूर्ण बुद्धियों को मुग्ध कर लेती है। कहने का भाव यह है कि माया के कारण ही नैकधा आत्मा की अनुभूतियां नैकविध बुद्धियों में होती रहती हैं। वस्तुतः आत्मा में तो एक विधता ही है ॥३७॥

पुंसां भेदो बुद्धिभेदाद् अम्बुभेदाद् यथा रवेः।
व्योम्नश्च छिद्ररूपेण भेदः कुम्भादिभेदतः ॥३८॥

आत्माओं में नैकविधता की अनुभूति बुद्धियों की नैकविधता के कारण ही ही होती है। जैसे सूर्य के एक होते हुए भी पानी के स्वच्छ या गन्दे होने पर उसमें वह स्वच्छ व गन्दा दिखाई देता है। उसी प्रकार सूर्य का स्वरूप सुस्पष्टतः गोलाकार होने पर भी पानी के अन्दर लहरों के भेद के कारण उन लहरों पर पड़ने वाला सूर्य का प्रतिबिम्ब भी लहरों के ही आकार प्रकार का दिखाई देता है; किन्तु वास्तव में वह है तो गोलाकार ही। उसी प्रकार से आकाश के टुकड़े नहीं किए जा सकते हैं; तथापि घटाकाश, मठाकाश, नगराकाश, महाकाश इत्यादि भेदों के द्वारा उसमें छिद्ररूप से भेद की कल्पना की जाती है ॥३८॥

अतः शुद्धो बुद्धमुक्तः सर्वदा सर्वगोऽव्ययः।
अहमन्ये च तत्राहो शत्रुमित्रादिधीर्मृषा ॥३९॥

इसलिए हमेशां हर जगह रहने वाला कभी भी किसी भी स्थिति में रूपान्तरित नहीं होने वाला आत्मा नित्य है, शुद्धस्वरूप है, ज्ञानसम्पन्न है, और सर्वथा मुक्तस्वरूप है। वह कभी भी किसी भी तरह से पाप पुण्यादि की अशुद्धि से सम्पृक्त नहीं होता है; और न कभी अज्ञानजन्य आसक्ति उसमें होती है। और न ही वह कभी भी किसी भी तरह से बन्धन में ही पड़ता है। वह तो हमेशां एकरस शुद्ध, बुद्ध, और मुक्त ही होता है। मैं हूं; ये दूसरे हैं; ये शत्रु हैं, ये मित्र हैं, इत्यादि प्रकार की बुद्धि तो पारमार्थिक रूप से सर्वथा झूंठी ही है ॥३९॥

ब्रह्मणीशे हराविन्द्रे सर्वभूतगणे तथा।
उत्तमाधममध्यत्वविभागो मायया मृषा ॥४०॥

ब्रह्मा, शंकर, विष्णु, इन्द्र एवं निखिल प्राणिवर्ग में जो पारस्परिक उत्तम मध्यम और अधम होने का वर्गीकरण किया जाता है; वह केवल माया के द्वारा काल्पनिक झूंठा ही होता है। वास्तव में कोई भी किसी से भी उत्तम नहीं होता, कोई भी किसी से भी अधम भी नहीं होता और न कोई किसी की अपेक्षा मध्यम ही होता है। आत्मा में सर्वत्र समभाव है। अतः आत्मिक दृष्टि से उत्तमाधममध्यता की कल्पना सर्वथा व्यर्थ है; तथा झूंठी, मायिक एवं

अवास्तविक है। वास्तव में आत्मा तो सर्वथा निर्विकार एकरस ही है उसमें यह उत्तमादि कैसे सम्भव है ? अर्थात् कथंचिदपि कोई भी आत्मा उत्तम मध्यम या अधम नहीं हो सकता है ॥४०॥

त्रिगुणात्मकमायायास्त्रैविध्यादात्मनोऽपि हि।
उत्तमाधममध्यत्व-त्रैविध्यं नैव हि स्वतः ॥४१॥

आत्मा में भी जो उत्तमता अधमता या मध्यमता की वजह से त्रैविध्य माना जाता है। वह सत्त्वगुणमयी, रजोगुणमयी और तमोगुणमयी माया के त्रैविध्य के हेतुवश ही होता है। अर्थात् वस्तुतः वह माया का ही है; अपने आप आत्मा का नहीं है ॥४१॥

यथा देहे तथाऽन्यत्र चित्प्रकाशोऽयमव्ययः।
व्यक्तताऽव्यक्ततामात्रभेदो ह्यन्तरबाह्ययोः ॥४२॥

यह आत्मज्योति कभी भी किसी भी तरह से रूपान्तरित नहीं होती है, केवल शरीर में ही आत्मज्योति की व्यक्तता होती है; और अन्यत्र अव्यक्तता रहती है। इस तरह आत्मा जैसे शरीर में है। उसी तरह से अन्यत्र भी है। केवल भीतर और बाहर वाले स्वरूपों में व्यक्तता और अव्यक्तता मात्र का भेद है ॥४२॥

एवमन्येऽपि पुरुषा बद्धमुक्ताविशेषतः।
ईशानीशाविशेषाच्च पुरुषार्थो न मेऽस्त्यतः ॥४३॥

इस प्रकार दूसरे पुरुष भी बन्धन में पड़े हुए हों या मुक्त हों परन्तु पारमार्थिक रूप से तो सभी आत्म तत्त्व समान ही होते हैं। क्योंकि हर आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध एवं स्वभावतः मुक्त ही होता है। इसलिए बद्ध और मुक्त में पृथक्-पृथक् विशेपता न होने से तथा व्यावहारिक दृष्टि से माया के प्रभाववश हम किसी को ईश और किसी को अनीश भले ही मानते रहे। किन्तु पारमार्थिक रूप से तो इनमें परस्पर कोई भी पृथक्-२ विशेषता नहीं होती है। इसलिए मुझ आत्म तत्त्व के लिए पारमार्थिकरूप से कोई पुरुषार्थ नहीं है। भाव यह है कि पारमार्थिक रूप से तो हर आत्मा सर्वथा मुक्त ही है। इसीलिए सांख्यसूत्रकार भी लिखते हैं; कि—"विमुक्त विमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य अर्थात् आत्मा सर्वथा मुक्त है; तथापि उस मुक्त आत्म तत्त्व को भी पुनः मुक्ततत्त्व की अनुभूति मात्र करवाने के लिए स्वयं प्रवृत्ति होती है। इस तरह से सुस्पष्ट हो जाता है; कि—पारमार्थिक दृष्टि से कोई पुरुषार्थ नहीं होता ॥४३॥

महानिद्रैव मे साध्वी, दुःखभोगहरा प्रिया।
अप्रिया मूढचित्तानाम् असाध्वी धीहतात्मनाम् ॥४४॥

महानिद्रा ही मेरी तो सम्पूर्ण दुःखमय भोगों का अपहरण करने वाली पतिव्रता प्रिया है। किन्तु तमोगुणविशिष्ट अज्ञानजन्य आसक्ति में फंसे रहने वाले अपनी अपनी बुद्धियों के दोष के कारण अपने अपने स्वरूपों को नहीं जान सकने वाले पुरुषों की महानिद्रा ही असद् आचरण करने वाली अप्रिया होती है ॥४४॥

चिदादर्शे मयि धियो यद्यपि प्रतिविम्बनम्।
तत्त्वतो नैव दोषाय तथापि त्याज्यमेव तत् ॥४५॥

आत्मज्योति-स्वरूप मुझ आत्मा पर बुद्धि का प्रतिविम्ब गिरना अर्थात् 'विषयाकाराकारित बुद्धि का प्रतिविम्बित होना; यद्यपि पारमार्थिक रूप से आत्मा में कोई दोष पैदा नहीं कर सकता है। फिर भी उसका परित्याग तो करना ही चाहिए। भाव यह है; कि—पारमार्थिक रूप से तो आत्मा भोग भोगता ही नहीं है। किन्तु औपाधिक रूप से भी जो बुद्धि के प्रतिबिंब द्वारा उसमें भोग उपस्थित होते हैं तथा पुरुष तत्त्व में उनका भोक्तृत्व रहता है; उसका भी ये भोग मेरा नहीं है, मैं नित्य, शुद्ध बुद्ध और स्वभावतः मुक्त चिज्ज्योतिः स्वरूप आत्मा हूं। निर्गुण निरिन्द्रिय निरंजन एवं निराकार होने के हेतुवश कथंचिदपि इन भोगों का मेरे साथ कोई संबंध नहीं है। ये तो केवल प्रकृति के संयोग से प्रतीत होते हैं; और उसके वियोग हो जाने पर समाप्त हो जाते हैं। अतः ये सब उसी के हैं। मेरा इनसे कोई नाता नहीं है। इत्यादि रूप से तत्त्वज्ञान द्वारा अपना सही स्वरूप जानकर इन औपाधिक भोगों का भी परित्याग अवश्य करना चाहिए। क्योंकि वेद का वचन राजा की आज्ञा की तरह अनुल्लघनीय होता है। और वेद कहता है, कि—आत्मा वाऽऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" "विद्वान् हर्षशोकौ जहाति" और भी लिखा है कि श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्य श्चोपपत्ति भिः। मत्वा च सततं-ध्येयः एते दर्शन हेतवः।। अर्थात् वेदों के वचनों द्वारा आत्म तत्त्व को सुनना चाहिए, और दर्शनशास्त्र की युक्तियों द्वारा आत्मचिन्तन करना चाहिए, और चिन्तन करके सही स्वरूप में आत्मा को मानकर लगातार नियमित रूप से योग प्रक्रियानुसार आत्मा का ध्यान करना चाहिए। ये सभी उपाय मिलकर आत्मा का साक्षात्कार अर्थात सुखदुःखादि के भोक्तृत्व की जो औपाधिक सत्ता है उससे सर्वथा मुक्त करवाते हुए इसे अपना नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप का स्वरूपावबोध करवाते हैं। इसीलिए श्रीभिक्षु महोदय ने "त्याज्यमेव तत्" कहकर हर हालत में औपाधिक भोग की प्रतीति करवाने वाले बुद्धि के

प्रतिबिंबन को छोड़ना ही चाहिए। यह तथ्य स्पष्ट किया गया है ॥४५॥

स्वभावादस्य हेयत्वं स्वानुभूत्या हि सिध्यति।
यथा कोऽपि परस्यापि वैरूप्यं न दिदृक्षति ॥४६॥

इस बुद्धि के प्रतिबिंबन रूपी औपाधिक भोग की हेयता तो स्वभाव से ही सुनिश्चित रूप से अपने अनुभव के द्वारा भी सिद्ध हो ही जाती है। क्योंकि जैसे कोई भी व्यक्ति किसी भी दूसरे पुरुष की अवास्तविक स्वरूपयुक्तता को नहीं देखना चाहता है। वैसे ही नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव वाले आत्मा की अवास्तविक रूप से वुद्धि प्रतिबिंब के द्वारा उपस्थित होने वाले भोग की भोक्तृता को कोई भी नहीं देखना चाहेगा। हर व्यक्ति हर वस्तु को अपने सही स्वरूप में ही देखना चाहता है इसलिए स्वाभाविक है; कि आत्मा का भी सही स्वरूप में साक्षात्कार करना ही सभी को सर्वथा समभिप्रेत रहता हो ॥४६॥

स्वामिन्यारोप्यात्मदोषान् साध्वीयमनुतप्यते।
निर्दोषं स्वामिनं दृष्टवा निर्दोषा स्यात् पतिव्रता ॥४७॥

यह सदाचार सम्पन्न वुद्धि अपने दोषों को अपने स्वामी आत्मा पर आरोपित करके स्वयं पश्चात्ताप करती रहती है। अत: जव दोषशून्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभावात्मक स्वरूप में आत्मा का साक्षात्कार करके स्वामिभक्त वुद्धि स्वयं दोषशून्य हो जाती है। वुद्धि में उपस्थित भोगों की औपाधिक रूप से जो आत्मा में प्रतीति होती है उसी के लिए वुद्धि स्वयं अनुताप करती है। इससे सुस्पष्ट है; कि—पुरुष में वास्तविक रूप से मलीनता नहीं होती है ॥४७॥

एवमस्या रूपभेदेप्येकरूपोऽस्मि सर्वदा।
भुञ्जानो वाऽप्यभुञ्जानस्तां मदर्थामनन्यगाम् ॥४८॥

इस श्लोक से प्रारम्भ करके इस परिच्छेद की पूर्ति तक विवेकाभ्यास करने वाले का ध्यान करने का प्रकार बतलाया जा रहा है; इसीलिए "अस्मि, मे मयि", इस प्रकार के शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं।

केवल मुझ जीवात्मा के लिए ही रहने वाली, दूसरे किसी जीवात्मा से किसी भी प्रकार का सम्वन्ध नहीं रखने वाली, बुद्धि को चित्त की व्यक्तावस्था में न भोगता हुआ और निरुद्धावस्था में भोगता हुआ भी मैं आत्मा तो इस वुद्धि में रूप भेद होने पर भी स्वयं तो हमेशां एक स्वरूप ही रहता हूं ॥४८॥

यथैकरूपतोपाधियोगायोगदशास्वहो।
आदर्शस्यामलस्येव चिन्नभोदर्पणस्य मे ॥४९॥

जैसे शीशा स्वयं सर्वथा स्वच्छ रहता है। उसके समक्ष आने वाले स्वरूप

जब जब आते हैं तो उसमें दीखते हैं ; तथा जब जब उसके समक्ष कोई स्वरूप नहीं आता है ; तब तब वह अपने शुद्ध रूप में साफ ही रहता है। पारमार्थिक रूप से तो शीशा दोनों ही स्थितियों में शुद्ध एवं असम्पृक्त ही होता है। वैसे ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्धमयी बुद्धि के प्रतिबिम्बमय भोग का संयोग होने की स्थितियों में अर्थात् (व्युत्थानावस्थाओं में) तथा उन प्रतिबिम्बमय भोगों का भी योग न होने वाली स्थितियों में (समाधि) की चित्तवृत्ति की निरुद्धावस्थाओं में चिदाकाश रूपी दर्पण मुझ आत्मा की तो सर्वथा उभयत्र एकरूपता ही रहती है ॥४९॥

दृश्यबुद्धिगता दोषाः साक्षात्द्रष्टरि प्रभौ।
न सन्ति मयि मोहाद्या भास्करे भास्यदोषवत् ॥५०॥

जिस प्रकार से सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होने वाली वस्तुओं के दोष सूर्य में नहीं होते हैं। उसी प्रकार से त्रिगुणात्मक दृश्य स्वरूपा बुद्धि में होने वाले सुख-दुःख-मोह इत्यादि दोष उस बुद्धि के साक्षात् द्रष्टा उसके स्वामी चेतन मुझ आत्मा में बिलकुल नहीं होते हैं ॥५०॥

दुःखैर्बद्धा स्वमात्मानं त्यक्त्वा मद्भावमागता।
मुच्यते दुःखबन्धाद् धीर्न मे मोक्षो न बन्धनम् ॥५१॥

दुःखों के द्वारा बन्धन में पड़ी हुई बुद्धि जब अपने स्वरूप को छोड़कर आत्म-भाव को प्राप्त हो जाती है। तब तो वह दुःख के बन्धन से छूट जाती है। अर्थात् ये बन्ध और मोक्ष बुद्धि के ही होते रहते हैं। मुझ पुरुष तत्त्व का तो पारमार्थिक रूप से न कोई बन्धन होता है ; और न कोई मोक्ष ही। इस तरह अविवेक के हेतुवश दुःख के संयोग से बुद्धि बन्धन को प्राप्त करती है ; तथा विवेक के प्रभाव से दुःखों से सम्बन्ध छोड़ देने पर मुक्त हो जाती है। इस तरह से सुस्पष्ट है कि आत्म तत्त्व सर्वथा सर्वदा निर्लिप्त ही रहता है ॥५१॥

कूटस्थासङ्गचिद्व्योम्नि धीदुःखप्रतिबिम्बनम्।
योऽन्यो बन्धो भोगरूपः सोऽपि चिद्दर्पणे मृषा ॥५२॥

नित्य एकरस रहने वाले सर्वथा सङ्गदोष शून्य आत्माकाश में बुद्धि के दुःख का प्रतिबिम्बित होने वाला भोग स्वरूपात्मक जो वह दूसरा बन्धन माना जाता है। वह भी आत्मज्योतिरूपी सर्वथा स्वच्छ शीशे में झूठा ही आरोपित है ; वास्तविक नहीं है। बन्धन दो प्रकार का माना गया है—एक दुःखाकार में परिणाम स्वरूप और दूसरा प्रतिबिम्बात्मक भोग स्वरूप। इनमें से पहले प्रकार का बन्धन तो बुद्धि का ही है। और दूसरे प्रकार का बन्धन पुरुष का

ही होते हुए भी पुरुष के कूटस्थ और असङ्ग होने के हेतुवश वह मिथ्या ही होता है। अर्थात् पारमार्थिक रूप से आत्मा में कोई बन्धन नहीं होता ॥५२॥

जाग्रदादित्रयावस्थासाक्षी ताभिर्विवर्जितः ।
अहं पूर्णश्चिदादित्य उदयास्तविवर्जितः ॥५३॥

जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति, अर्थात् जगने की स्थिति, अर्धनिद्रित अवस्था और प्रगाढ़निद्रा की हालत इन तीनों ही स्थितियों का साक्षाद्द्रष्टा मैं साक्षिभूति आत्मा चेतन तत्त्व पुरुष उन तीनों ही स्थितियों से सर्वथा रहित हूँ। मैं कभी भी किसी भी प्रकार से किसी भी न्यूनता का अनुभव नहीं करने वाला हूँ। मैं तो हमेशाँ अपने आप में पूर्णता से परिपूर्ण रहने वाला चैतन्य रूपी ऐसा सूर्य हूं ; जो न कभी उदय होता है ; और न कभी अस्त। अर्थात् मैं उदयास्त से सर्वथा शून्य कूटस्थ नित्यैकरस चिज्ज्योतिः स्वरूप हूं ॥५३॥

दर्पणे मुखवद् विश्वं मयि बोधे न तात्त्विकम् ।
विभुत्वेऽपि च बाह्यन्तः सुषुप्त्यादावदर्शनात् ॥५४॥

व्यापकता होने पर भी सुषुप्ति आदि की स्थिति के समय में बाहर दिखाई देने वाला तथा भीतर अनुभव किया जाने वाला कुछ भी नहीं दीखने के हेतुवश शीशे में दीखने वाले मुख की तरह सम्पूर्ण संसार की प्रतीति होती है। परन्तु जब मुझे आत्म तत्त्व का बोध हो गया तो ऐसा हो जाने पर वह वास्तविक नहीं है ; वह विश्व तो मेरे में ही प्रतीत हो रहा था ऐसा अनुभव हो जाता है। भाव यह है कि जैसे सही बोध नहीं होने पर शीशे में जो मुंह का प्रतिविम्ब दिखाई देता है ; उसी को कोई प्राणी वास्तविक मुख शीशे में ही है, ऐसा समझने लगता है। किन्तु जब उस प्राणी को यह ज्ञान हो जाता है ; कि यह प्रतिविम्ब मात्र मुंह नहीं है। यह तो भ्रम ही था; कि—मैं मुंह के प्रतिविम्ब को ही मुंह समझ बैठा। वैसे ही संसार की भी स्थिति उस प्रतिविम्बात्मक मुंह की तरह ही है ॥५४॥

मयि वाऽन्यत्र वा पुंसि केवलानुभवे विभौ ।
भाति यत् तद्विवर्त्तो धी-प्रतिबिम्बात्मकत्वतः ।५५॥

ज्ञान स्वरूपी मुझ आत्म तत्त्व में जो प्रतिविम्ब प्रतिभासित होता है। वह तो जो बुद्धि का प्रतिविम्ब आत्मा पर पड़ता है ; उसी स्वरूप की प्रति छायास्वरूपी होने के हेतुवश मुझ आत्मा में, अथवा अन्यत्र किसी पुरुष में, या कैवल्य का अनुभव करने वाले व्यापक आत्मा में, जो कुछ भी सुशोभित हो रहा है ; वह सब कुछ भ्रम ही है। पारमार्थिक रूप से यह कुछ भी नहीं रहता है ॥५५॥

शुक्तौ रजतवद् विश्वम् अतो मयि न दोषकृत् ।
मरीचौ तोयवत् तद्वद् व्योमादौ नगरादिवत् ॥५६॥

शुक्तिका (सींप) में चाँदी की भ्रान्ति हो जाने पर ऐसा लगता है ; कि—वह सींप नहीं है, अपितु चाँदी ही है। किन्तु जब पास जाकर या हाथ में लेकर देखते हैं। तब सुस्पष्ट हो जाता है ; कि—वस्तुतः चाँदी नहीं थी, यह तो सींप है। फिर भी हमें तो केवल भ्रान्तिवश ही वहाँ चाँदी लग रही थी। ऐसे ही ब्रह्म में ही सम्पूर्ण संसार का भ्रम हो रहा है। जब तत्त्व ज्ञान हो जाता है ; तब तो सुस्पष्ट हो जाता है, कि वस्तुततः संसार की प्रतीति भ्रान्तिवश ही हो रही थी ; वास्तव में तो ब्रह्मातिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसलिए ऐसी केवल विवर्त्तमय स्थिति वाला संसार मुझ आत्म तत्त्व में किसी प्रकार की कोई गड़बड़ी पैदा नहीं कर सकता है।

भीषण गर्मी के समय मारवाड़ प्रदेश के रेतीले भूभाग में सूर्य की रश्मियों में ही जल का भ्रम हो जाता है। किन्तु उसे जल समझकर वहाँ जल प्राप्ति के लिए दौड़ने वाले जानवर दौड़-दौड़कर मर जाते हैं ; किन्तु उन्हें पानी नहीं मिलता है। क्योंकि वस्तुतः पानी तो वहाँ होता ही नहीं ; केवल सूर्य-रश्मियाँ ही पानी की लहरों की तरह प्रतीत होती है। अतः पानी मिले कैसे और उन्हें तृप्ति कैसे हो। ठीक वैसे ही ससांर के नैकविध भोगों की वास्तविक सत्ता स्वीकार करके प्राणी नैकविध प्रपञ्चों में फँस कर अब यह भोग्य वस्तु इतनी और मिल जाय, इतने समय तक और मिल जाय, वह भोग मिले, यह भोग मिले इत्यादि रूप से भ्रान्तिवश जीवन भर माया के चक्कर में पड़कर परेशान होते रहते हैं ; और शान्ति प्राप्त नहीं कर पाते। किन्तु यदि उन्हें यह ज्ञात हो जाय ; कि जिस भोग्य वस्तुमय संसार की सत्ता वे पारमार्थिक रूप से मानकर उन भोग्य वस्तुओं के लिए अपने अमूल्य जीवन को बर्बाद कर रहे हैं ; उसकी सत्ता तो पारमार्थिक रूप से होती ही नहीं है। यह तो केवल ब्रह्म ही है। तो फिर तत्काल शान्ति मिल जाती है। इसी तरह स्वप्न में व्यक्ति झूंठे ही नगर की कल्पना आकाशादि मे करता है ; और झूंठी खुशी या दुःख की अनुभूति उस समय उसे होती है। तथा उसे जिस समय वह स्वप्नावस्था में रहता है उसी सत्ता की पारमार्थिक सत्ता के रूप में भ्रान्ति होती है। किन्तु जगने पर स्पष्ट हो जाता है ; कि स्वप्न के नगरादि एवं तज्जन्य सुखदुःखादि कुछ भी नहीं थे। वे तो झूंठे ही प्रतीत हो रहे थे। उसी प्रकार से तत्त्व ज्ञान हो जाने पर यह संसार की पारमार्थिक सत्ता मानने वाला दीर्घस्वप्न समाप्त हो जाता है; तथा केवल ब्रह्म तत्त्व का बोध हो जाता

है। और वह स्वस्वरूपावबोध करके भ्रान्तिवश अनुभूयमान सम्पूर्ण सुख-दुःखादि के निखिल प्रपञ्चों से मुक्त हो जाता है ॥५६॥

कालत्रयेऽपि नास्त्येव मयि विश्वं सनातने।
अन्यत्रास्त्वथवा मास्तु बुद्ध्यादौ मम तेन किम् ॥५७॥

मुझ कूटस्थ, नित्य, अनादि काल से अनन्त काल पर्यन्त सदा एकरस रहने वाली, आत्म ज्योति में न संसार था, न इस समय है, और न कभी भी भविष्य में भी होगा ही। इस तरह से तीनों समयों में कभी भी किसी भी प्रकार से आत्मा में विश्व की सत्ता होती ही नहीं है। बुद्धि इत्यादि आत्मातिरिक्त तत्त्वों में विश्व की सत्ता हो, या न हो, इससे मुझ आत्मतत्त्व को क्या प्रयोग। क्योंकि मैं तो सर्वथा नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाला हूं ही ॥५७॥

मयि सर्वं यथा व्योम्नि सर्वत्राहं यथा नभः।
न सर्वं मयि सर्वत्र नाहं चालेपतः खवत् ॥५८॥

जैसे आकाश में सब कुछ रहता है; उसी प्रकार से सब कुछ मुझ आत्म तत्त्व में होता है। इसी प्रकार से जैसे आकाश सब जगह रहता है; वैसे ही मैं भी सब जगह रहता हूं। किन्तु जैसे आकाश में निखिल वस्तुओं की स्थिति रहने पर भी उस आकाश में विकार पैदा करने वाला संयोग उन वस्तुओं का नहीं होता है। उसी प्रकार से आत्मा में भी सम्पूर्ण वस्तुओं के रहने पर भी आत्म तत्त्व के निर्लिप्त होने के हेतुवश किसी भी प्रकार के विकार को उत्पन्न करने वाला वस्तुओं का सम्बन्ध आत्मा में नहीं होता है। इसीलिए सांसारिक वस्तुओं के पारस्परिक संयोग की तरह मुझे आत्मा तत्त्व में सब कुछ नहीं होता है। क्योंकि मैं "असंगह्ययं पुरुष" इत्यादि प्रमाणों के द्वारा सर्वथा निर्लिप्तत्वेन सिद्ध हूं। इसी तरह से किसी वस्तु के साथ कोई वैकारिक सम्बन्ध रखने की दृष्ठि से भी मैं सर्वत्र नहीं हूं ॥५८॥

अत एवाविभागाख्याभेदेन क्षीरनीरवत्।
ज्ञानात्मकमिदं विश्वं गायन्ति परमर्षयः ॥५९॥

यद्यपि दूध दूध ही होता है; और पानी पानी ही। किन्तु जब दोनों को मिला दिया जाता है; तो केवल हंस ही उन दोनों के पार्थक्य को समझ कर उनमें से दूध-दूध को पी लेता है, तथा पानी पानी को छोड़ देता है। उसी लिंग प्रकार से शरीरावच्छेदकत्वेन तत्त्व एवं महदादि अठारह तत्त्वों के लिंग शरीर स्वरूपी जड़ तत्त्वों का परस्पर जो संयोग प्रकृति पुरुष संयोगात्मक होता है; उससे दोनों को सामान्य प्राणी अलग-अलग करके नहीं समझ पाता।

उसे विवेकख्याति नहीं रहती वह तो दोनों को सर्वथा एक ही समझने लगता है। और इसीलिए ईश्वर कृष्ण ने सांख्यकारिका में लिखा है; कि —

"तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः॥"

अर्थात उस प्रकृति पुरुष के संयोग के हेतुवश सर्वथा जड़ होने पर भी जन साधारण की दृष्टि में बुद्धितत्त्व ऐसा लगता है कि मानो वह चेतना से युक्त है, और वैसे ही विना रजोगुण के प्रवृति हो नहीं सकती और विना प्रवृत्ति के कोई भी क्रिया कैसे सम्पन्न हो। इसलिए वस्तुतः सर्वथा निर्गुण आत्म तत्त्व में रजोगुण की सत्ता या किसी भी प्रकार की कोई भी क्रिया हो नहीं सकती। इसलिए जितनी भी क्रियायें होती हैं; वे सभी सर्वथा त्रिगुणात्मक महदादि तत्त्वों द्वारा ही सम्पन्न सोती हैं। किन्तु चैतन्य की साक्षी में होने के हेतुवश कूटस्थ नित्य उस चेतन आत्म तत्त्व को भी जन साधारण कर्त्ता समझने लगता है! कहने का भाव यह है; कि महदादि तत्त्व जड़ होते हुए भी चेतन की तरह लगते हैं।और आत्म तत्त्व सर्वथा क्रियाशून्य होने पर भी कर्ता की तरह लगता है पारमार्थिक रूप से न बुद्धि चेतन है; और न आत्मा कर्त्ता ही।

परन्तु इस तथ्य को जन साधारण नहीं समझ कर दोनों की सर्वथा पृथक पृथक विशेषता होने पर भी दोनों को मिला हुआ ही समझ कर दोनों का पार्थक्य नहीं समझ पाता। किन्तु यह तो सुनिश्चित है ही कि मिलने से पूर्व जो दूध जिस मात्रा में जैसा भी था पानी के साथ मिल जाने पर भी वह दूध उसी मात्रा में तथा ठीक वैसा ही होता ही है। भले ही उसे जनसाधारण न समझ सकता हो। वैसे ही भले ही जन साधारण सांसारिक स्थिति में प्रकृति पुरुष विषयक विवेक ख्याति सम्पन्न नहीं होने से वह दोनों तत्त्वों का पृथक् पृथक् साक्षात्कार नहीं कर सकता हो! पर इतना तो सुनिश्चित है; कि "न नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते" इत्यादि सूत्रों के द्वारा सुस्पष्ट किया हुआ आत्म तत्त्व तो नित्य शुद्ध, बुद्ध और स्वाभाविक रूप से हमेशाँ मुक्त रहने वाला चेतन तत्त्व तो उस समय भी सर्वथा निर्लिप रूप से ही रहता है क्योंकि जैसे स्वाभाविक रूप से रहने वाली अग्नि की गर्मी को अग्नि से अलग किया ही नहीं जा सकता। वैसे ही स्वाभाविक रूप से नित्यत्त्व, शुद्धत्त्व, बुद्धत्त्व एवं मुक्तत्त्व से सम्पन्न आत्मतत्त्व महदादि की अनित्यता, भोगात्मक, अशुद्धता एवं विवेक ख्यातिशून्यता स्वरूपिणी अबुद्धता और भोगशरीरावच्छेदकतया नैकदा, नैकधि, योनियों में नैकत्र नैक लोकों में परिभ्रमण-स्वरुपा अमुक्तता का लेश मात्र भी सम्पर्क हो ही नहीं सकता। हंस की तरह तत्त्वज्ञानी यह सुस्पष्ट स्वरूप से जानते हैं; कि जड़

चेतन में यह अभेद अविभाग स्वरूप से ही दूध और पानी की तरह है। क्योंकि ज्ञान और ज्ञेय को सामान्यतः पृथक् पृथक् ग्रहण नहीं किया जा सकता है। क्योंकि अज्ञानजन्य आसक्तिवश उन दोनों की पारस्परिक एकता का बोध होता है। उसी को अविभाग बतलाया गया है उस अविभाग रूपी अभेद के द्वारा जड़चेतन के ऐक्य की प्रतीति होती है। इनमें तादात्म्य-सम्बन्ध रूपी अभेद के द्वारा ऐक्य की प्रतीति हो रही हो ; ऐसी बात नहीं है

उत्कृष्ट मन्त्रद्रष्टा ऋषि लोग आत्मा के साथ उपर्युक्त अविभाग को देख करके ही यह संसार भी ज्ञान स्वरूप आत्ममय है ; ऐसा बतलाते हैं। विष्णुपुराण में भी लिखा है कि--

ज्ञानस्वरूपममलं निर्मलं परमार्थतः।
तदेवार्थस्वरूपेण भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम् ॥

जिसका अर्थ है ; कि—पारमार्थिक रूप से ज्ञान स्वरूपी आत्म-तत्त्व सर्वथा शुद्ध व औपाधिक रूप से आरोपित भोगात्मक दोषों से शून्य शुद्धस्वरूप ही होता है। वही भ्रान्तिमय दृष्टि से सम्पूर्ण संसार के नैकविध शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धस्वरूपों में स्थित प्रतीत होता है। भाव यह है ; कि—आत्मा में ही सम्पूर्ण संसार की भ्रान्ति हो रही है। वस्तुतः पारमार्थिक रूप से तो आत्मा सर्वथा शुद्ध ही है ॥५९॥

जगन्मम मदर्थत्वात्, मच्छरीरसुखादिवत्।
यथा मम तथाऽन्येषां ममैवेति धियो भ्रमः ॥६०॥

वस्तुतस्तु न कस्यापि किमपि व्यभिचारतः।
स्वामित्वस्याध्रुवत्वेन पान्थस्यावासगेहवत् ॥६१॥

भोग्य सामग्री से परिपूर्ण यह संसार मुझ भोक्ता पुरुष के लिए होने के हेतुवश मेरा है। जैसे मेरे शरीर में होने वाले सुख, दुःख, मोह मेरे होते हैं ; ठीक वैसे ही। परन्तु यह संसार जैसे मेरा है वैसे ही दूसरों का भी तो है। मेरा ही है ; इस प्रकार का तो बुद्धि को भ्रम ही होता है।

वास्तव में तो कुछ भी किसी का नहीं है। क्योंकि भोग्यात्मक संसार के भोग में पारस्परिक व्यभिचार दोष होने के हेतुवश क्या कब किसका है। और कब तक है, यह कहा नहीं जा सकता। जैसे राहगिर रास्ते में ठहरने के लिए धर्मशाला आदि में घर लेता है और जितने समय के लिए उस घर में ठहरता है। तब तक के लिए उस घर में भी स्वत्व बुद्धि बनाकर मेरा अमुक न० का कमरा है ; इत्यादि प्रयोग करता है। किन्तु इस बात को वह भी समझता ही है; कि यह घर वास्तव में तो मेरा नहीं है। क्योंकि उस राहगिर

का उस घर का स्वामित्व निश्चित नहीं होता है। प्रायः प्रतिदिन ही उनके स्वामी तो बदलते ही रहते हैं।

वास्तव में तो जैसे राहगिर भी जानता है; कि मैं इसका मकान मालिक तो नहीं हूं; परन्तु केवल कुछ समय के लिए ही इसका स्वामित्व मुझे मिला है। उसी प्रकार से यह शरीर और निखिल भोगमय संसार कुछ समय के लिए ही हमें मिलते हैं। इसलिए पारमार्थिक रूप से न शरीर हमारा होता है; और न संसार ही। जो हमें स्वत्वानुभूति होती है। वह तो मिथ्याभिमानमय ही होती है। वास्तव में तो आत्मा सर्वथा निःसङ्ग ही होता है। अतः पारमार्थिक रूप से उसका अपना कुछ भी नहीं होता है। ॥६०-६१॥

एकं चिन्मात्रमस्तीह शुद्धं शून्यं निरञ्जनम्।
सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं तत्र न जगन्न जगत्क्रिया ॥६२॥

वस्तुतः यहाँ एकमात्र केवल आत्मज्योति ही है। जो सर्वथा शुद्ध है, सर्वविध संपर्क शून्य और किसी भी प्रकार की सम्पृक्तता नहीं रखने वाली सूक्ष्म से भी सूक्ष्म अतीव सूक्ष्म स्वरूप में रहने वाली जिसे सामान्यतः देखा नहीं जा सकता है वही परमात्मस्वरूप परब्रह्म आत्मा है। उसके अलावा न कोई संसार होता है; और न कोई भी सांसारिक क्रियायें ही होती हैं। यहाँ एक आत्मत्त्व का प्रतिपादन करने में एक संख्या वाली ही आत्मा है ऐसा नहीं अपितु एकस्वरूप असंघातात्मक आत्मतत्त्व होता है। इस भाव से एकत्त्व का प्रतिपादन है ॥६२॥

दृश्यते सर्वदृश्याढ्या स्वस्वबुद्धिपरम्परा।
चिन्मण्डलमहादर्शे प्रतिबिम्बमुपागता ॥६३॥

इन्द्रियों के माध्यम से ग्रहण किए जाने वाले विषयों का जो आकार होता है। उस आकार को बुद्धि ग्रहण कर लेती है। तथा शुद्ध आत्मा के सान्निध्य से वैसी ही उस आत्मा में प्रतिबिम्बित होती है। और इस तरह उस बुद्धि के विषयाकाराकारित प्रतिबिम्ब की आत्मा में अनुभूति होती है। तथा उस आत्मा को ही साँसारिक स्थिति में विषयपभोग करने वाला समझ लिया जाता है! इसीलिए लिखा है कि चैतन्य मण्डल रूपी बड़े भारी शीशे में प्रतिबिम्बित होने वाली एवं रहने वाली सम्पूर्ण दृश्य विषयों से संपन्न अपनी अपनी बुद्धियों की परम्परा दिखायी देती है ॥६३॥

क्वचित् व्यक्तं क्वचित् सूक्ष्मं नभः सर्वत्र तिष्ठति।
यथा तथा चिदाकाशं धी देशेऽन्यत्र च स्थितम् ॥६४॥

जैसे कहीं अभिव्यक्त रूप में तो कहीं अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूप में ही आकाश रहता है! किन्तु रहता सब जगह है। वैसे ही बुद्धि वृत्ति के समय में तथा बुद्धि वृत्ति के अतिरिक्त समय में उभयत्र आत्मा तो आकाश की तरह हर समय रहती ही है ॥६४॥

चिदाकाशमयं विश्वं यतोऽतो धीरितस्ततः ।
भ्रमन्ती तत्र तत्रैव, भासतेऽर्के घटादिवत् ॥६५॥

क्योंकि आत्माकाश स्वरूपी सम्पूर्ण ससार है। इसलिए बुद्धि इधर से उधर परिभ्रमण करती हुई जैसे सूर्य के प्रकाश में घट, पट, मठ आदि भासित होते रहते हैं ; वैसे ही वहाँ वहाँ भासित होती रहती है ॥६५॥

धर्माधर्मों जन्ममृत्यू सुखदुःखादि चाखिलम् ।
जाग्रत्यपि मृषा स्वप्न इव जन्मादिकं मम ॥६६॥

जन्म होना, मृत्यु होना, पुण्ययुक्त होना, पापयुक्त होना, सुखी होना, दुःखी होना, इत्यादि सब कुछ जगते रहने पर भी झूँठा ही स्वप्न हो रहा हो ऐसे झूंठे ही मुझे प्रतीत होते रहते हैं। क्योंकि पारमार्थिक रूप से तो मैं केवल आत्म ज्योति, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और सर्वथा स्वभाव से ही सर्वथा मुक्त हूं। अतः मुझ आत्म तत्त्व में जन्मादि की स्थिति तो पारमार्थिक रूपेण होती ही नहीं है। ॥६६॥

दृश्ययोगवियोगाभ्यां चितौ जन्मविनाशधीः ।
अभिव्यक्त्यनभिव्यक्ति-दोषाभ्यां शशिनो यथा ॥६७॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धात्मक निखिल दृश्य त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण वस्तुओं के संयोग और वियोगों के द्वारा शुद्ध चैतन्य में भी जन्म लेने और मृत्यु को प्राप्त करने की बुद्धि प्रतिबिम्बित होती है। वह ठीक वैसे ही है। जैसे चन्द्रमा कभी दीखने लगे तो चन्द्रमा का प्रकट होना और नहीं दीखने लगे तो नष्ट होना मान लिया जाय। अर्थात् चन्द्रमा तो हर क्षण में रहता ही है। यद्यपि उसे आप कभी देख पाते हैं ; और कभी नहीं देख पाते हैं ; और कभी नहीं देख पाते। उसी प्रकार से आत्मा तो हमेशा बना ही रहता है। किन्तु उसे त्रिगुणात्मक दृश्य के संयोग के समय आप उसका जन्म और उनके वियोग के समय मृत्यु का अनुभव करते हैं। किन्तु वस्तुतः आत्मा के जन्म मृ यु नहीं होते हैं। ॥६७॥

महासुषुप्तौ भवजन्ममृत्युदुःस्वप्नधाराः क्षणभङ्गुरा धीः ।
पश्याम्यहं ताभिरलिप्तरूपो घनैरुपेतैः विगते रवौः किम् ॥६८॥

जैसे बादल आ जावें या बादल चले जावें उनसे सूर्य को कोई फर्क नहीं पड़ता है वैसे ही महासुषुप्ति में रहने वाला मैं (आत्म तत्त्व) संसार में जन्म मृत्यु आदि के स्वरूप में होने वाले बुरे स्वप्न के प्रवाह को और क्षणभंगुर बुद्धि प्रभृति इन सभी को इनसे सर्वथा निर्लिप्त रूप से रहते हुए देखता रहता हूं। अर्थात् पारमार्थिक रूप से ये ऐसी बातें मुझ आत्म तत्त्व से कोई सम्बन्ध नहीं रखती हैं। जैसे स्वप्नों का महत्व नहीं होता है वैसे ही इनका भी कोई महत्व नहीं होता ॥६८॥

इत्येवं सततं ध्यायन्, एकाग्रमनसा सुधीः ।
साक्षात्करोत्यात्मतत्त्वं वागगोचररूपतः ॥६६॥

श्रेष्ठ बुद्धि से सम्पन्न विद्वान् पुरुष एकाग्र चित्त से इसी तरह उपर्युक्त प्रकार लगातार चिन्तन करता हुआ, वाणी के विषय नहीं बन सकने वाले वर्णनातीत स्वरूप से स्थित आत्म ज्योति का साक्षात्कार कर लेता है । ॥६६॥

स्वरूपं निर्मलं शान्तम् मनस्त्यजति चेत् क्षणम् ।
तदैवदृश्यसंस्कारशेषात् सङ्क्षुभ्यतीन्द्रियम् ॥७०॥

चित्त यदि क्षणमात्र के लिए भी अपने शान्त एवं निर्मल स्वरूप को छोड़ देता है ; तो उसी समय तत्काल दृश्य विषयों के अवशिष्ट संस्कारों के हेतुवश इन्द्रियाँ क्षुब्ध हो जाती हैं । ॥७०॥

उत्थितानुत्थितांस्तत्र इन्द्रियारीन् पुनः पुनः ।
विवेकेनैव वज्रेण हन्यादिन्द्रो गिरीनिव ॥७१॥

इस तरह उपर्युक्त प्रकार से क्षुब्ध हुए इन्द्रिय रूपी शत्रुओं को जब जब भी वे क्षुब्ध होकर विषयों की ओर प्रवृत्त हों तब तब बार बार उन्हें अपने जड़चेतन के वास्तविक मर्म के विश्लेषण सम्पन्न विशिष्ट ज्ञान (विवेक) के द्वारा हमेशा के लिए नष्ट कर दे । अर्थात् सर्वथा निरुद्ध कर ले । जैसे इन्द्र ने जब जब पहाड़ों ने गड़बड़ी की और अपने पंखों के द्वारा उड़ उड़कर नैकधा सृष्टि में विनाश लीलाएं कीं । तब तब अपने वज्र के द्वारा उनके पक्षच्छेदन के द्वारा उनके द्वारा होने वाली सम्पूर्ण विनाश लीला को समाप्त कर दिया और इस तरह सम्पूर्ण सृष्टि चक्र में पूर्णतः शांति स्थापित कर दी । इसी तरह अपने अन्दर अर्थ की गड़बड़ी पैदा करने वाली इन्द्रियाँ जब जब गड़बड़ी करें तब तब अपने तत्त्व ज्ञान के प्रभाव से उनकी गड़बड़ी को रोक दे । ताकि आत्म तत्त्व की अपनी परमानन्दमयी स्थिति में भी प्रतीयमान अवास्तविक रूप में होने पर भी सर्वथा समाप्त हो जाय । ॥७१॥

इति श्रीविज्ञानभिक्षुविरचिते साङ्ख्यसारे राजयोगप्रकारपरिच्छेदः ।

इस तरह श्री विज्ञान भिक्षु द्वारा लिखे गये सांख्यसार नामक ग्रंथ के राजयोग के प्रकार का प्रतिपादन करने वाला षष्ठ परिच्छेद परिपूर्ण हुआ ।

———

सप्तमः परिच्छेदः

एवमात्मानुभविनो जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ।
स्पष्टं वक्ष्ये भवेद् येन ज्ञानाज्ञानपरीक्षणम् ॥१॥

इस तरह उपर्युक्त प्रकार से आत्मतत्त्व का अनुभव करने वाला जीवन्मुक्त होता है। उस जीवन मुक्त पुरुष का अब इस परिच्छेद में सुस्पष्ट लक्षण बतलाऊँगा; जिससे और अज्ञान की परीक्षा हो सके।

इस सप्तम परिच्छेद में जीवन्मुक्ति एवं परममुक्ति का निरूपण होगा तथापि इस श्लोक में क्रम प्राप्त जीवन्मुक्ति का निरूपण करने की ही प्रतिज्ञा की है। ऐसी प्रतिज्ञा करके जीवन्मुक्ति का लक्षण सुविस्तृत रूप से करके पश्चात् परममुक्ति का वर्णन भी किया है। किन्तु परममुक्ति का नाम गृहण-पूर्वक वर्णन जीवन्मुक्ति की तरह नहीं किया। इसीलिए प्रारम्भ में जीवन्मुक्ति लक्षण का ही संकेत किया गया है। वस्तुतः निरूपण तो दोनों का ही है ॥१॥

श्रवणान्मननाद्वापि अन्यथात्मज्ञताभ्रमात् ।
कुर्य्याद् गुरुमविद्वांसं स्याच्चाज्ञो ज्ञाभिमान्यपि ॥२॥

"श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्य-श्चोपपत्तिभिः; मत्वा च सततन्ध्येयः, एते दर्शनहेतवः।" इस वेद वाक्य के अनुसार आत्मतत्त्व जिज्ञासु को चाहिए कि वह आत्मतत्त्व के विषय में जो भी वेद में लिखा है। उसे पढ़े और गुरुमुख से श्रवण करे। उसके पश्चात् दर्शन शास्त्रों की मुक्तियों द्वारा उस वेद प्रतिपादित आत्मस्वरूप का मनन करे। जब इस तरह आत्मतत्त्व ठीक से समझ में आ जावे। तब लगातार उसका ध्यान करे। इस तरह श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन ये तीनों मिल करके ही आत्मसाक्षात्कार के कारण बनते हैं। इनमें से एक के भी अभाव में सही माने में आत्मतत्त्व का साक्षात्कार नहीं हो सकता है। इसीलिए श्री विज्ञानभिक्षु ने इस श्लोक द्वारा स्पष्ट किया है; कि वेदशास्त्र में प्रतिपादित आत्मतत्त्व निरूपण को ठीक तरह गुरु मुख से श्रवण कर लेने से और दर्शन शास्त्रों का अध्ययन न करके उनमें प्रतिपादित युक्तियों द्वारा उस तत्त्व पर मनन करने पर भी यदि निदिध्यासन नहीं किया जाय तो सही-सही आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं होता है। किन्तु बिना निदिध्यासन के ही आत्मतत्त्व की जानकारी के भ्रम से जो स्वयं आत्मतत्त्व को सच्चे माने में नहीं जानते हैं. ऐसे गुरु की शरण में जाता है। और मैं आत्मतत्त्व को जानने वाला हूं इस प्रकार से स्वयं तत्त्वज्ञानी होने के अभिमान वाला होने पर भी वह पारमार्थिक रूप से सच्चे माने में तो मूर्ख ही अर्थात् आत्मतत्त्व को सही रूप

. नहीं जानने वाला ही रह जाता है। कहने का भाव यह है कि केवल आत्मतत्त्व विषयक वैदिक एवं दार्शनिक अध्ययन मात्र से कोई तत्त्वज्ञानी नहीं बन सकता जब तक कि वह स्वयं आत्मतत्त्व का साक्षात्कार किए हुए किसी योगी के चरणों में बैठ कर उनके निर्देशन में निदिध्यासन न कर ले। याने निदिध्यासन भी श्रवण एवं मनन की ही तरह सर्वथा परमावश्यक होता है। अतः वेद एवं दर्शन शास्त्रों का सम्यक् रूप से अध्ययन करके किसी विशिष्ट तत्त्वज्ञानी योगी को गुरू बनाकर उनके निर्देशन में निदिध्यासन अवश्य करें ॥२॥

नैश्वर्य्यानागतज्ञत्वादिकं ज्ञानस्यलक्षणम् ।
तदुक्तेऽपि हि कैवल्यं योगभाष्यकृतेरितम् ॥३॥

"सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् इस सूत्र के व्यास भाष्य में व्यास जी ने सुस्पष्ट किया है; कि —"एतस्याभवस्थायां कैवल्यं भवति ईश्वरस्यानीश्वरस्य वा विवेकज्ञानाभ्यासिन इतरस्य वा" (३/५५) ऐसी स्थिति में अर्थात् सत्त्व एवं पुरुष इन दोनों में समान रूप से शुद्धता हो जाने पर मोक्ष हो ही जाता है। चाहे वह ईश्वर हो या अनीश्वर, चाहे वह विवेक ज्ञान का अभ्यास करने वाला हो, अथवा अन्य कोई। इसीलिए श्री विज्ञान भिक्षु, ने भी इस श्लोक में स्पष्ट किया है; कि ऐश्वर्य्य की समुपलब्धि कर लेना या अनागत भविष्य में होने वाली सभी स्थितियों को जान लेना आदि को ज्ञान का लक्षण नहीं माना जा सकता है। क्योंकि पातञ्जलयोगदर्शन के तृतीय पाद के अन्तिम पिचपनवें सूत्र के व्यास भाष्य में कहा गया हैं ; कि—ऐश्वर्य प्राप्ति व भविष्य में होने वाली सभी स्थितियों की जानकारी कर लेने की स्थिति प्राप्ति के विना भी सुनिश्चित रूप से सत्त्व एवं पुरुष इन दोनों में समान रूप से शुद्धि हो जाने पर कैवल्य हो ही जाता है।॥ ३ ॥

श्रौतस्मार्त्तानि वाक्यानि ज्ञानिनो मोक्षभागिनः ।
लक्षकाण्येव लिख्यन्ते विश्वासातिशयाय वै ॥४॥

अव श्री विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि—मोक्ष प्राप्त करने वाले तत्त्वज्ञानी को लक्षित करने वाले वैदिक वाक्य एवं स्मृतियों के वाक्य लिखे जाते हैं। जिनसे सुनिश्चित रूप से सुविशिष्ट विश्वास हो सके; कि—वस्तुतः मोक्षभागी, तत्त्व ज्ञानी का सही स्वरूप यही है। इसी विश्वास के लिए या यो कहें कि साधक के विश्वास को सुदृढ़ करने के लिए ही श्रुति एवं स्मृतियों के ये वचन हैं ॥४।

यत्र सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥५॥

ईशोपनिषद् के सातवें मन्त्र का भाव यह हैं कि—जहाँ जिस तत्त्व ज्ञानी की दृष्टि में विशिष्ट तत्त्वज्ञान से सम्पन्न होने से प्राणीमात्र (सभी भूत) आत्म स्वरूप ही हो गए हों वहाँ सर्वत्र एकता को देखने वाले अर्थात् सभी

आत्माओं में अविभाग लक्षणात्मक अभेद की अनुभूति करने वाले तत्त्वज्ञानी के हृदय में कौन सी अज्ञान जन्म आसक्ति हो सकती हैं। और कौन सा मानसिक कष्ट हो सकता है। अर्थात् उस तत्त्वज्ञानी को न तो कभी कोई मोह होता है; और न ही कोई शोक ॥५॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत् तत्प्राप्यशुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६॥ (भगवद्गीता २/५७)

जो प्राणी उन उन शुभ वस्तुओं को प्राप्त करके उनके कारण सर्वथा आनन्दित नहीं होता है, और न उनका अभिनन्दन ही करता है। और उस अशुभ वस्तु या स्थिति को पाकर भी कभी द्वेष नहीं करता है। इस तरह जो व्यक्ति सभी के साथ अनासक्त भाव से व्यवहार रखता है। अर्थात् राग द्वेष की भावना से ऊपर रहने वाला व्यक्ति ही स्थितप्रज्ञ कहलाता है। उसी की बुद्धि प्रतिष्ठित मानी जाती है। अर्थात् वही प्राणी जीवन्मुक्त होता है। केवल वह प्रारब्ध कर्मों के भोग पर्यन्त इस शरीर में रहता है। तदनन्तर परम कैवल्य पा लेता है ॥६॥

न विस्मरति सर्वत्र यथा सततगो गतिम् ।
न विस्मरति निश्चैत्यं चिन्मात्रं प्राज्ञधीस्तथा ॥७॥

जैसे लगातार गतिशील रहने वाला वायु सभी जगत चलता ही रहता है। वह कभी अपनी गति को भूलता नहीं है। वैसे ही स्थित प्रज्ञ व्यक्तिप्र वृष्ट एवं विवेकख्याति सम्पन्न बुद्धि वाला व्यक्ति भी सभी दर्शन शास्त्रों के द्वारा निश्चित किए जाने वाले केवल आत्म ज्योति को कभी भी कहीं भी नहीं भूलता है। ॥७॥

नोदेति नास्तमायाति सुखे-दुःखे मुखप्रभा ।
यथापूर्वस्थितिर्यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते ॥८॥ (योगवासिष्ठे ३/९/६)

सुख के समय में जिस व्यक्ति के मुखमण्डल की क्रांति उदित नहीं होती है। अर्थात् सुख के समय जो खुशी से फूलता नहीं है। और दुःख के समय में जिसके मुखमण्डल की क्रांति फीकी नहीं पड़ती है अर्थात् अस्त नहीं होती है। भाव यह है कि हमेशाँ ही जिसकी मुख प्रभा समभाव से बनी रहती है। अर्थात् जो व्यक्ति सुख-दुःख के समय में समभाव से रहता है। वही जीवन्मुक्त कहलाता है ॥८॥

यो जागर्ति सुषुप्तस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते ।
यस्य निर्वासनो बोधः सजीवन्मुक्त उच्यते ॥९॥ (योगवासिष्ठे ३/९/७)

जो सुषुप्तावस्था में जगता रहता है। अर्थात् स्वात्मानुभूति के परमानन्द को प्राप्त कर उसकी सुरक्षा में सावधान रहता है। और किसी भी तरह से प्रमोद नहीं करता संसार के अन्दर नैक विधि प्रायः सर्वत्र दृश्यमान चाकचाक्य

से परिपूर्ण वस्तुओं में जिसे स्वत्व की अनुभूति नहीं रहती अर्थात् इस संसार की जागृत वस्तुओं से जिनका कोई सम्बन्ध रहता है। इस तरह जिस प्राणी को मिथ्याज्ञान के संस्कार के रूप में रहने वाली वासना से रहित शुद्ध तत्त्वज्ञान हो जाता है। वही व्यक्ति जीवन्मुक्त कहलाता है। ॥९॥

रागद्वेषभयादीनाम् अनुरूपं चरन्नपि ।
योऽन्तर्व्योमवदत्यच्छः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥१०॥ (योगवासिष्ठे ३/९/८१)

राग द्वेष, भय, क्रोध इत्यादिक भावों के अनुसार, सम्पूर्ण संसार के व्यवहार को यथासमय यथाविधि आचरण करता हुआ भी जो व्यक्ति अपने अन्तःकरण में आकाश की तरह एकदम शुद्ध होता है। अर्थात् जिसे यह अनुभव हो जाता है कि ये सम्पूर्ण सांसारिक क्रियाकलाप तो स्वाभाविक रूप से होते ही रहते हैं। "गुणा गुणेषु वर्त्तन्त इति कृत्वा न सज्जते" यह तो गुणों का गुणों के साथ व्यवहार हो रहा है। इसमें मेरा कुछ नहीं है। मैं तो नित्य, शुद्ध बुद्ध एवं मुक्त स्वभाव वाला आत्मतत्त्व हूं। इनसे पारमार्थिक रूप से मेरा कोई कोई सम्बन्ध नहीं है। इस तरह निर्लिप्त भाव से सम्पूर्ण सांसारिक प्रक्रियाओं का निर्वहण करता हुआ भी उनसे पारमार्थिक रूप से कमल के पत्ते की तरह सर्वथा असम्पृक्त ही रहता है। जैसे दिन रात पानी में सराबोर रहने पर भी कमल के पत्ते में पानी चिपकता नहीं है। उसी तरह से राग द्वेषभयादि के अनुरूप आचरण भी परम शुद्धान्तःकरण करने वाले योगी को प्रभावित नहीं कर सकते हैं। इसीलिए वह प्राणी जीते हुए भी मोक्ष प्राप्त कर चुका है। अर्थात् उसे तत्त्वज्ञान हो गया है। इसलिए वह मुक्त हो ही गया है; किन्तु केवल अपने प्रारब्ध कर्मफल भोग को पूरा करने मात्र के लिए ही इस शरीर में विद्यमान है। और इन सम्पूर्ण प्रक्रियाओं को निर्लिप्त भाव से करता हुआ परममुक्ति की प्राप्ति पर्य्यन्त इस शरीर को धारण करता रहता हैं। इसी से यह जीवन्मुक्त कहलाता है ॥१०॥

तस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
कुर्वतोऽकुर्वतो वाऽपि स जीवन्मुक्त उच्यते ॥११॥ (योगवासिष्ठे ३/९/९)

स्वकर्त्तव्य कर्मों का यथा समय यथाविधि अनुष्ठान करते हुए अथवा उनका अनुष्ठान न करने की स्थिति में भी जिस प्राणी की बुद्धि लिप्त नहीं होती है। उसको लेशमात्र भी अहङ्कार की भावना नहीं होती है। वही जीवन्मुक्त कहलाता है। भाव यह है कि सम्पूर्ण सांसारिक कर्म करने पर भी यदि उन कर्मों को करने वाला कर्त्ता कर्त्तृत्व के अहङ्कार की भावना को फटकने भी नहीं देता है; अपितु वह मानता है; कि—यह तो प्रकृति के ही गुणों का गुणों में व्यवहार हो रहा है। तो वह इस तरह सर्वथा अनासक्त भाव से कर्म करने वाला कर्मठ होने के हेतुवश जीवन्मुक्त कहलाता है ॥११॥

अपि शीतरुचावर्के अत्युष्णेऽपीन्दुमण्डले ।
अप्यधः प्रसरत्यग्नौ जीवन्मुक्तो न चान्यधीः ॥१२॥

सामान्यतः सूर्य में हमेशां गर्म किरणें ही होती हैं ; परन्तु इसके विपरीत यदि कदाचित् असम्भव होने पर भी उसमें ठण्डी किरणों के हो जाने पर भी, इसी तरह से चन्द्रमण्डल में सामान्यतः हमेशां ही ठण्डक रहती है। असंभव होने पर भी यदि कदाचित् इसके विपरीत वह चन्द्रमण्डल भी बहुत गर्म हो जावे तो ऐसा हो जाने पर भी ऐसे ही अग्नि की ज्वाला भी स्वभावतः हमेशाँ ऊपर की ओर ही फैलती है फिर भी असम्भव होने पर भी यदि वह इसके विपरीत नीचे की ओर फैल रही हों ; तो भी जीवन्मुक्त पुरुष कभी भी विचलित नहीं हो सकता है। भाव यह है ; कि—संसार में सभी अनहोनी बातें भी होने लग जावें ; तो भी जीवन्मुक्त तो कभी भी अपनी बुद्धि में अन्यथा भाव को फटकने भी नहीं देता। वह तो स्थितप्रज्ञ हो जाता है ॥१२॥

चिदात्मन इमा नित्यं प्रस्फुरन्तीह शक्तयः ।
इत्यस्याश्चर्यजालेषु नाभ्युदेति कुतूहलम् ॥१३॥

प्रकृति के नैकविधि परिणाम के स्वरूप में रहने वाले ; आत्म ज्योति की ये नैकविधि शक्तियां ही प्रकट होती ही रहती है। परन्तु इस प्रकार अद्भुत चमत्कारों के जगड्जाल में भी जीवन्मुक्त प्राणी के अन्तःकरण में इनके कारण कभी भी कोई भी कौतुहल उदित नहीं होता है। वह तो स्थिर चित होकर निवातस्थ दीपक की तरह निश्चल भाव से केवल अपने पूर्व सञ्चित प्रारब्ध कर्माशयवासनाओं का भुगतान करने के लिए मुक्त हो जाने पर भी केवल शरीर धर्म का पालन करता हुआ ; शरीर में रहता मात्र है। अन्य प्रपञ्च से उसका कुछ भी लेना देना अवशिष्ट नहीं रहता है। अतः सांसारिक चाकचक्य में वह कभी नहीं फँसता है। इसीलिए वह सर्वथा जीवन्मुक्त ही है ॥१३॥

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि ।
तदेवास्वादयत्यन्तर्नरसङ्गरसायनम् ॥१४॥ (योगवासिष्ठे ५/७४/७३)

जैसे अन्य पुरुष के संसर्ग का व्यसन रखने वाली स्त्री अपने गृहस्थजीवन के घरेलू कार्यों में व्यस्त रहने के समय में भी अपने अन्तःकरण में तो उसी दूसरे पुरुष के संसर्ग के आनन्द का आस्वादान करती ही रहती है ॥१४॥

एवं तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्तिमागत. ।
तदेवाऽऽस्वादयत्यन्तर्बहिर्व्यवहरन्नपि ॥१५॥

वैसे ही जो साधक व्यक्ति इस प्रकार से सर्वोत्कृष्ट परम शुद्ध आत्मज्योति में आश्रय प्राप्त कर लेता है ; और जो निखिल सांसारिक कष्टमय थकान खो करके परम शान्ति को प्राप्त कर लेता है ; वह भी बाह्य सम्पूर्ण व्यवहार को यथाविधि करता हुआ भी अपने अन्तःकरण में उसी आत्मज्योति

में परम आनन्द का आस्वादन करता ही रहता है ॥१५॥

योो नित्यमध्यात्ममयो नित्यमन्तर्मुखः सुखी ।
गम्भीरश्च प्रसन्नश्च गिराविव महाह्रदः ॥१६॥

जो हमेशां आध्यात्मिक चिन्तन में तन्मय रहता हो, जिसकी प्रवृत्ति हमेशां अन्तर्मुखी ही होती है ; और जो बाह्य प्रवृत्तियों के निरोध से सर्वथा सुखी रहता हैं। इसी तरह से जैसे पहाड़ के ऊपर रहने वाला कोई सुगभीर बड़ा भारी तालाब सर्वथा स्वच्छ ही रहता है। उसी प्रकार से जो अपने अन्तःकरण में सर्वथा परिपूर्ण रूप से गम्भीरता रखता हो ; तथा हमेशां प्रसन्न मन ही रहता हो (वही जीवन्मुक्त होता है) ॥१६॥

परानन्दरसाक्षुब्धो रमते स्वात्मनाऽऽत्मनि ।
सर्वकर्मपरित्यागी नित्यहृष्टो निरामयः ॥१७॥

जो सर्वोत्कृष्ट आत्मानन्द में प्रशान्त महासागर की तरह सांसारिक सर्वविध क्षोम का परित्याग करके परम शान्ति का अनुभव करता हो, जो अपनी ही आत्मज्योति में अपने आपके द्वारा ही आनन्दित रहता है। निष्काम भाव से सम्पूर्ण कर्मों का आचारण करने पर भी उनके फल का परित्याग करता हुआ जो सम्पूर्ण कर्मों का परित्याग कर देने वाला हो और जो हमेशां परम प्रसन्न रहता हो, तथा जिसे कभी किसी भी तरह के रोग या कष्ट नहीं होते हों ॥१७॥

न पुण्येन न पापेन नेतरेणापि लिप्यते ।
येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः ।
यत्र क्वचन शायी च स सम्राडिव राजते ॥१८॥

इसी तरह जो व्यक्ति फल परित्याग पूर्वक सत्कर्मों का आचरण करने के हेतुवश पुण्ययुक्त नहीं होता हो और जो दुष्कर्म तो करता ही नहीं है। और इसीलिए पाप से मुक्त भी नहीं होता हो एवं जो किसी भी तरह के शुक्लकृष्ण या कृष्णशुक्ल कर्मों से लिप्त नहीं होता हो ; जिस किसी व्यक्ति के द्वारा जिसे वस्त्र पहिना दिये जाते हों तथा जिस किसी के द्वारा जिसे भोजन करवा दिया गया हो और जो जहां कहीं अनिश्चित स्थान पर वैसे ही सो रहने वाला हो वही सम्राट् की तरह सुशोभित होता है। अर्थात् ऐसी स्थिति को प्राप्त कर लेने वाला व्यक्ति ही जीवन्मुक्त कहलाता है ॥१८॥

वर्णधर्माश्रमाचार-शास्त्रयन्त्रणयेप्सितः ।
निर्गच्छति जगज्जालात् पञ्जरादिव केशरी ॥१९॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चारों वर्णों के लिए शास्त्रविहित विभिन्न कर्मों की सीमा रेखा तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चारों आश्रमों के लिए भी नियत आचार संहिता शास्त्रों में बतलायी गयी है।

किन्तु उपर्युक्त स्थिति को प्राप्त कर लेने वाला जीवन्मुक्त इन वर्ण, आश्रम एवं शास्त्रों के नियमन से भी मुक्त हो जाता है। और सांसारिक प्रपञ्च से अपने आपको मुक्त कर लेता है; तथा परम शान्ति का अनुभव करता है। जिस प्रकार पिंजड़े से मुक्त हो जाने पर अपने सर्वतन्त्र स्वतन्त्र जीवन में शेर को आनन्दानुभूति होती है। ठीक उसी तरह से जीवन्मुक्त व्यक्ति भी शरीर के धर्म, वर्णाश्रमाचार एव शास्त्रनियमों से स्वेच्छानुसार मुक्त होकर आत्मानन्द में ही मस्त रहता है। क्योंकि उसे अब शरीर मात्र से सम्बन्धित ब्राह्मणादि वर्णों एवं ब्रह्मचर्यादि आश्रमों से परे आत्मा की ही अहर्निश अनुभूति होती रहती है। और आत्मत्वेन किसी भी वर्ण या आश्रम के व्यक्ति में कोई भेदबुद्धि नहीं रहती है। अतः इससे स्वेच्छाचारिता या शास्त्रमर्यादोलङ्घन की आशङ्का नहीं करनी चाहिए ॥१९॥

वाचामतीतविषयो विषयाशादशोज्झितः
कामममप्युपगतः शोभां शरदीव नभस्तलम् ।२०॥

जीवन्मुक्तात्मा का वर्णन पूर्णतः वाणी से किया जा सकता सम्भव नहीं होने से सम्पूर्ण वाणियों से वर्णनातीत उसे बतलाया गया है। जीवन्मुक्त पुरुष या स्त्री में किसी भी तरह से कभी भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धात्मक इस संसार के या स्वर्गादि परलोकों में प्राप्त होने वाले दिव्यादि निखिल विषयों का उपभोग करने की इच्छा सर्वथा समाप्त हो जाती है। वह तो कभी भी किसी भी भोग को भोगने की इच्छा नहीं रखता। चाहे वह स्वर्गादि लोकों में प्राप्त होने वाले दिव्यभोग हों, चाहे सांसारिक विषयोपभोग।

उसकी आत्मज्योति तो ऐसी निखर जाती है; कि वह स्वयं वर्णनातीत शोभा को प्राप्त कर लेता है। वह सम्पूर्ण कर्म बन्धनों से सर्वथा मुक्त हुआ ऐसा लगता है; जैसा शरद् ऋतु में स्वच्छ, सर्वथा निर्मल एवं निर्द्वन्द्व रूप से रहने वाला प्रशान्त आकाश मण्डल सुशोभित होता है। ॥२०॥

निःस्तोत्रो निर्नमस्कारः पूज्यपूजाविवर्जितः ।
संयुक्तो वा वियुक्तो वा सदाचारनयक्रमः ॥२१॥

जीवन्मुक्तावस्था में व्यक्ति के लिए कोई स्तुति पाठ आदि करना भी अनिवार्य नहीं रहता है। यदि कदाचित् कुछ करने की लहर आ गयी तो इतना किया कि सर्वथा उसी में तल्लीन हो गया; और यदि लहर नहीं आयी तो किया ही नहीं। इसी तरह से किसी भी देवता को या किसी भी व्यक्ति को नमस्कार करने की लहर हो तो कर ले। विचार न बने तो न करे इस तरह से नमस्कार विषयक सामान्य नियमात्मक बन्धन से भी वह सर्वथा मुक्त हो जाता है।। सांसारिक सामान्य स्थिति में तो गुरू माता, पिता, अपने से बड़े तथा सभी ज्येष्ठ सम्बन्धी, ज्ञानी, ध्यानी, महात्मा साधु, सन्त इत्यादि

जितने भी पूज्य हों; उनकी पूजा का प्रतिबन्ध रहता ही है, किन्तु जीवन्मुक्त के लिए वह भी बिल्कुल हट जाता है। जीवन्मुक्त व्यक्ति सदाचार की नीति के क्रमबद्ध आचार संहिताओं से संयुक्त हो, या विमुक्त हो। उससे उसकी स्थिति में कोई वैशिष्ट्य या न्यूनता नहीं आती है क्योंकि यह सम्पूर्ण प्रपञ्च शरीर धर्मानुसार व्यवस्थित होता है। आत्मा की दृष्टि से विचार करने पर तो सर्वत्र सर्वथा समभाव हो समभाव हो जाता है। ऐसी स्थिति में कौन किसकी स्तुति करे और कौन किसको नमस्कार करे एवं कौन किसकी पूजा करे। इसीलिए जीवन्मुक्तावस्था में आत्मानन्द की मस्ती में मस्त प्राणी को इन सभी शास्त्र विहित प्रतिबन्धों से मुक्त माना जाता है। ॥२१॥

एतावदेव खलु लिङ्गमलिङ्गमूर्त्तेः,
संशान्तसंसृतिचिर भ्रमनिर्वृतस्य।
तज्ज्ञस्य यन्मदनकोप विषादलोभ।
मोहापदामनुदिनं निपुणं तनुत्वम् ॥२२॥

सुनिश्चित रूप से उस परम तत्त्व को अच्छी तरह जानने वाले अर्थात आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर लेने वाले एवं सम्यक् प्रकार से शान्त हो जाने वाले, जिसका संसार में आवागमन का चिरकाल से चालू चक्कर मिट गया है। और इसीलिए जो परम शान्ति का अनुभव करने लग गया हो, ऐसे व्यक्ति का जो लौकिक चिन्हों से शून्य स्वरूप वाला हो ऐसे जीवन्मुक्त प्राणी का इतना ही उपर्युक्त रूप से प्रतिपादित किया गया ही स्वरूप है। कहने का भाव यह है कि उपर्युक्त लक्षणों से सर्वथा सम्पन्न रहने वाला व्यक्ति ही जीवन्मुक्त पुरुष होता है। जिसकी काम-वासना, जिसका क्रोध का भाव एवं जिसकी सभी प्रकार की मानसिक अवसन्नता, जिसका सभी प्रकार का लोभ, लालच एवं अज्ञानजन्य आसक्ति और सभी प्रकार की आपत्तियां इन सभी की क्रमशः एकदम सूक्ष्मता हो जाती है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है ॥२२॥

तुर्य्यविश्रान्तियुक्तस्य प्रतीपस्य भवार्णवात्।
न कृतेनाकृतेनार्थो न श्रुतिस्मृतिविभ्रमैः ॥२३॥

सामान्यतः रहने वाली जाग्रद् अवस्था, स्वप्नावस्था एवं सुषुप्त्यवस्था इन तीनों ही अवस्थाओं को पार करके आत्मतत्त्वमात्र में विश्रान्ति प्राप्त कर लेने वाले और संसार रूपी समुद्र से उलटे चलने वाले; अर्थात् सम्पूर्ण साँसारिक प्रपञ्चों में नहीं फंस करके उनसे सर्वथा मुक्त हो केवल आत्मतत्त्व का सम्बल ग्रहण कर लेने वाले जीवन्मुक्त पुरुष को किए हुए कर्म से या नहीं किए जा सके कर्म से कोई भी प्रयोजन होता है। अर्थात कोई कर्म कर सका हो या कोई कर्म नहीं कर सका हो। इससे उसे कुछ लेना देना नहीं होता है। और न ही सामान्य प्राणियों को बोध कराने के लिए लिखे गये वैदिक एवं स्मार्त्त वाक्यों से उस

जीवन्मुक्त पुरुष को कोई प्रयोजन ही रहता है क्योंकि तत्त्वज्ञान से पूर्व ही इन की जरूरत रहती है। तत्त्वज्ञान हो जाने पर तो इनका कोई प्रयोजन ही नहीं रहता। इस तरह से सर्वथा द्वन्द्वातीत होकर चिरन्तन आत्म ज्योति का ज्ञान सर्वथा करके उसी के चिन्तन में मस्त रहने वाला ही जीवन्मुक्त होता है॥२३॥

तनुं त्यजतु वा तीर्थे श्वपचस्य गृहेऽथवा ।
ज्ञानसम्प्राप्तिसमये मुक्त एवामलाशयः ॥२४॥

सम्पूर्ण विषय वासना रूपी गन्दगी से सर्वथा रहित होकर एकदम निर्मल हो जाने वाला प्राणी तो तत्त्व ज्ञान पूर्णतः प्राप्त होते ही उसी समय मुक्त हो जाता है। उसके बाद वह अपने इन पांचों महाभूतों से बने हुए पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर को किसी तीर्थ स्थान में ही क्यों न छोड़ दे या किसी चाण्डाल के घर में उसे कोई फर्क नहीं पड़ता। वह तो मुक्त होता ही है; क्योंकि परमार्थसारोपनिषद् में भी लिखा है कि "तीर्थेश्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन् देहम्। ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः॥ (परमार्थ-सारोपनिषद् ८१) जिसका आशय यह है कि—आत्म ज्ञान हो जाने पर तीर्थ एवं चाण्डाल के घर के विषय में भेदबुद्धि उस तत्त्वज्ञानी के मस्तिष्क में रहती ही नहीं है। इस तरह तीर्थ वा चाण्डालगृह विषयक स्मृति नष्ट हो जाने वाला वह जीवन्मुक्त प्राणी अपने शरीर को छोड़ता हुआ ज्ञान के साथ ही मुक्त हो जाने के हेतुवश एवं निखिल मानस कष्टों को सर्वथा नष्ट कर देने के कारणवश हर हालत में कैवल्य को प्राप्त करता ही है। उसका पुनः वन्धन कभी नहीं होता ॥२४॥

न मोक्षो नभसः पृष्ठे न पाताले न भूतले ।
सर्वाशासंक्षये चेतःक्षयो मोक्ष इति श्रुतेः ॥२५॥

मोक्ष आकाश की पीठ पर अर्थात् आकाश पर नहीं होता; पाताल में या भूमण्डल पर भी कहीं नहीं होता है। परन्तु वह तो सभी प्रकार की आशाओं के नष्ट हो जाने पर और अपने चित्त के प्रकृति में लीन हो जाने पर ही होता है। अस्तित्व को मिटा देना ही मोक्ष कहलाता है। मैत्रायण्यपनिषद् में भी लिखा है कि "यथा निरिन्धनो वन्हिः स्वयोनावुपशाम्यति। तथा वृत्तिक्षयात् चित्तं स्वयोत्रावुपशाम्यति॥ (मैत्रायणी १/२/३) भाव यह है; कि जो जैसे विना लकड़ी के आग अपने आप ही तेज में लीन हो जाती है। ठीक वैसे ही चित्तवृत्तियों के नष्ट हो जाने पर चित्त भी अपने आप ही अपने मूल उद्‌गम स्थान मूल प्रकृति में लीन हो जाता है, और आत्मा अकेला रह जाता है। इस तरह आत्मा कैवल्य को प्राप्त हो जाता है। आत्मा की इसी स्थिति का का नाम मोक्ष है ॥२५॥

जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनो स्पन्दतामिव ॥२६॥ (योगवासिष्ठे ३/९/१४)

अपने कहलाने वाले पांच महाभूतों से बने पाञ्चभौतिक इस स्थूल शरीर को काल के सुपुर्द कर देने पर अर्थात् प्रारब्ध कर्माशय वासना को पूर्ण करके अपनी ईच्छानुसार जीवन्मुक्त योगी जव अपने शरीर को छोड़ देता है ; तव ऐसा कर लेने पर वह जीवन्मुक्त के पद को छोड़कर विदेह कैवल्यत्व को प्राप्त कर लेता है। जैसे वायु स्थूल स्वरूप से स्पन्दन करता रहता है ; किन्तु स्थूल का परित्याग कर देने पर सदागति कहलाने वाला होते हुए भी और मौजूद रहने पर भी स्पन्दन रहित हो जाता है। उसी प्रकार जीवन्मुक्तात्मा भी प्रारब्ध कर्माशय वासना के भोग समाप्ति पर अपने शरीर एवं सूक्ष्म शरीर इन दोनों शरीरों का क्रमशः परित्याग करके परम मुक्ति अर्थात् विदेह कैवल्य को प्राप्त कर लेता है ॥२६॥

अनाप्ताखिलशैलादिप्रतिबिम्ब हि यादृशी ।
स्याद्दर्पणे दर्पणता केवलात्मस्वरूपिणी ॥२७॥
(योगवासिष्ठे ३/४/५६)

विदेहकैवल्य प्राप्त होने पर आत्मा की स्व-स्वरूपावस्थिति कैसी होती है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं ; कि जैसे सम्पूर्ण पहाड़ आदि सांसारिक नैकविध वस्तुओं के प्रतिविम्ब नहीं गिरने पर जैसी शीशे में केवल अपनी स्वाभाविक रूप से रहने वाली विशेषता रह जाती है और कोई प्रति-बिम्वात्मक वस्तु नहीं रहती है। ठीक उसी प्रकार से विषयाकाराकारित बुद्धि के प्रतिविम्वों को ग्रहण नहीं करने की स्थिति में शुद्ध आत्म चैतन्य अपनी स्वाभाविक विशेषता के कैवल्य के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है और स्व-स्वरूपावस्थिति को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् औपाधिक रूप से बुद्धि के प्रतिबिम्वात्मक निखिल भोगों से औपाधिक मुक्ति हो जाती है। पारमार्थिक रूप से तो आत्मा हमेशा ही स्व-स्वरूपावस्थित ही है। जैसे शीशे में भी जो कुछ दीखता है। वह प्रतिबिम्व ही होता है। और उससे शीशे की स्वाभाविक सत्ता में पारमार्थिक रूप से तो कभी भी कोई भी फर्क नहीं पड़ता। किन्तु ऊपर से देखने पर उसमें वे स्वरूप भासित होते हैं जो जो प्रतिविम्वित हो रहे हों ठीक वैसे ही आत्मा में भी हमेशां पारमार्थिक रूप से तो शुद्धता वनी ही रहती है। किन्तु सामान्य रूप से विषयाकाराकारित बुद्धि के प्रतिविम्व से जो उसमें विषयों की अनुभूति होती है ; वह भी आपतित ऊपर ही ऊपर रहने वाले बुद्धि के प्रतिबिम्व के हट जाने पर हट जाती है। और आत्म ज्योति का वास्तविक स्वरूप सुस्पष्ट हो जाता है। यही स्थिति स्वरूपावन स्थिति या विदेह कैवल्य या परम गति या मोक्ष कहलाती है ॥२७॥

अहं त्वं जगदित्यादौ प्रशान्ते दृश्यसम्भ्रमे ।
स्यात्तादृशी केवलता स्थिते द्रष्टर्य्यवीक्षणे ।।२८।।

(योगवासिष्ठे ३/४/५८)

मैं, तू, संसार इत्यादि रूप में रहने वाला जो दृश्य सम्भ्रम है; उसके सर्वथा शान्त हो जाने पर वैसी केवलता आत्मा की हो जाती है। जब आत्मा चित्त वृत्तियों के सम्बन्ध से एकदम शून्यता की स्थिति में स्थित होता है। ऐसी स्थिति होने पर वही स्थिति परम कैवल्य कहलाती है। निखिल दृश्य सम्बन्धों का हमेशां के लिए सर्वथा छूट जाना ही मोक्ष है, वही परम कैवल्य है।।।२८।।

चिन्मात्रं चेत्यरहितमनन्तमजरं शिवम् ।
अनादिमध्यनिलयं यदनाधि निरामयम् ।।२९।।
न शून्यं नापि चाकारं न दृश्यं न च दर्शनम् ।
अनाख्यमनभिव्यक्तं तत् किञ्चिदवशिष्यते ।।३०।।

जो केवल चिज्ज्योति चेतना मात्र ही है। जो चैतन्य देने योग्य चेतन्य तत्त्वों से सर्वथा रहित रहता है। और जो तत्त्व कभी नष्ट नहीं होने वाला है। जो तत्त्व कभी जीर्ण भी नहीं होने वाला एवं कल्याण स्वरूप है। इसी तरह से जो तत्त्व कभी प्रारब्ध होता है, जिसका कभी मध्य नहीं होता जो कभी किसी तत्वान्तर में लीन होता है। जिसमें मानसिक कष्ट होता है तथा जिसमें कोई रोग नहीं होते, जो स्वस्थ ही हैं। जो शून्य नहीं है, और न आकार वाला ही है। देखने योग्य भी नहीं दृश्य है, और न ही स्वरूप वाला है। इस तरह जो कभी पुकारा नहीं जा सकता हो, वही कुछ अनभिव्यक्त स्वरूप में हमेशाँ ही विद्यमान रहने वाला केवल आत्म तत्त्व ही अवशिष्ट रह जाता है। वही स्थिति परम मुक्ति कहलाती है।

इति श्रीविज्ञानभिक्षुविरचिते सांख्यसारे जीवन्मुक्तिपरममुक्त्यो परिच्छेदः ।
इति सांख्यसारस्योत्तरभागः ।
सांख्यसारः समाप्तः ।।

इस प्रकार से श्री विज्ञानभिक्षु द्वारा लिखे हुए सांख्यसार नामक ग्रन्थ में जीवन्मुक्ति एवं परममुक्ति का प्रतिपादन करने वाला यह सप्तम परिच्छेदपूर्ण हुआ। इसके साथ ही यह साँख्यसार का सप्तम परिच्छेद भी पूर्ण हो गया, और इस तरह सांख्यसार नामक यह ग्रन्थ भी परिपूर्ण हुआ।

ॐ

शुद्धि पत्र

क्रमांक	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
१.	वर्ण्य ते	वर्ण्यते	१	१६
२.	हो जाना चाहिए अंश	जो अंश	२	१
३.	आरन्ध	आरब्ध	२	१४
४.	मोक्षोभवतीति	मोक्षो भवतीति	२	१५
५.	श्रूति	श्रुति	२	१५
६.	किमिच्चन्	किमिच्छन्	३	३
७.	अर्वथा	सर्वथा	३	११
८.	पूर्ति के लिए लिए	पूर्ति के लिए	३	२०
९.	बृहदारण्या कोपनित्	बृहदारण्यकोपनिषद्	३	फुटनोट (१)
१०.	कर्मजिर्भायते	कर्मभिर्जायते	४	२
११.	वैशिष्टयों	वैशिष्ट्यों	४	८
१२.	कौमविद्याः	कौर्मायाः	४	१६
१३.	निषिद्धस्त्रयादि	निषिद्धस्त्र्यादि	५	२५
१४.	महभारतेशान्ति पर्वाणि	महाभारते शान्तिपर्वणि	५	फुटनोट
१५.	अपसक्त	आसक्त	७	१०
१६.	विपा को	विपाको	७	२१
१७.	पयञ्चितमस्मारिति	प्रपञ्चितमस्माभिरिति	८	२१
१८.		सद्	९	२
१९.	पातज्जल	पातञ्जल	९	१२
२०.	तस्माद	तस्माद्	९	१६
२१.	व	वे	९	२८
२२.	सभी छब्बीसवां उपद्रवों से रहित सभी तत्त्वों का	सभी उपद्रवों से रहित छब्बीसों तत्त्वों का	१०	९-१०
२३.	हो जाना ही है।	ज्ञान हो जाना ही है।	१०	११
२४.	अस्था	अथा	११	१
२५.	सामाय तो	सामान्यतो	११	२
२६.	चेतना चेतना न्यत्व	चेतनाचेतनान्यत्व	१२	अन्तिम
२७.	विवेकज्ञानंनाश्यत्वादिति	विवेकज्ञाननाश्यत्वादिति	१३	९
२८.	विवेवज्ञान	विवेकज्ञान	१३	२३
२९.		भवति	१३	२८

क्रमांक	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
३०.	विवेणज्ञानस्येव	विवेकज्ञानस्यैव	१४	६
३१.	इससे ही है	इससे परे ही है	१५	३
३२.	विशेषोयत्	विशेषो यत्	१५	२०
३३.	शेषता	विशेषता	१५	२८
३४.		ननु यथोक्त	१६	१
३५.		रजतभ्रमवदिति	१६	३
३६.		साक्षात्कार	१६	१८
३७.	मिथ्ताज्ञानवासना	मिथ्याज्ञानवासना	१६	२४
३८.		निष्ठोच्यते	१६	२५
३९.	वैषम्यम्	वैषयम्म्	१६	२७
४०.	औ	और	१६	२८
४१.	मानी प्यात्मा	मानोऽप्यात्मा	२०	१६
४२.	चतुर्विशतिरेव	चतुर्विंशतिरेव	२२	३
४३.		पार्थ्विन्द्रिय	२२	१५
४४.		गुणानामेव	२३	१७
४५.		महत्तत्त्व	२४	१५
४६.		चान्वर्था	२५	२१
४७.		विभ्वेव	२५	२८
४८.		सत्त्वादीनि	२७	१६
४९.		सत्त्वाद्यंशत्रयेण	३२	१४
५०.		साधारण्येन	३३	८
५१.		सृष्टिक्रमे	३३	१०
५२.	वद्धि	बुद्धि	३९	२२
५३.	बद्धि	बुद्धि	३९	२२
५४.	लिंग	लिङ्ग	३९	अन्तिम
५५.	श्रुतिमम्मत	श्रुतिसम्मत	४३	३
५६.	कम्पभेदेन	कल्पभेदेन	४३	५
५७.	इन्द्रियाङ्कुर	इन्द्रियाङ्‌कुर	४४	२६
५८.		अंग	४५	६
५९.	जानेहऽमिति	जानेऽहमिति	४६	६
६०.	का	को	४८	२०
६१.	प्रभा	प्रमा	४८	२९
६२.	स्वरूपाववोध काही	स्वरूपाववोध हो उसको ही	४९	४
६३.	चिद्रूप	चिद्रुप	४९	२४
६४.	होने क	होने के	४९	२९

क्रमांक	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
६५.	अत:चेतक	अतः चेतन	५१	१७
६६.	वैशिट्ष्य	वैशिष्ट्य	५३	३०
६७.	विक्रमहीं	विकृत नहीं	५६	७
६८.	स्वस्थ पाथिव	स्वस्थपार्थिव	५६	१०
६९.	त्वप्ने	स्वप्ने	५९	१०
७०.	आत्मंवात्ति	आत्मैवास्ति	५९	२८
७१.	रीप	शीप	६०	३
७२.	संतार	संसार	६१	२
७३.	मूखतावश	मूर्खतावश	६१	१८
७४.	निग्न में	निगाह में	६१	३०
७५.	स्वष्ठीकरण	स्पष्टीकरण	६२	१२
७६.	प्रदान करन	प्रदान करने	६४	४
७७.	वह वृक्ष	वट वृक्ष	६४	९
७८.	सत्काया द्यु पवर्णनात्	सत्कार्याद्यूपवर्णनात्	६४	१३
७९.	यथो समय	यथा समय	६५	३
८०.	भानमथंस्य	भानमर्थस्य	६७	६
८१.	विषयो राग	विषयोपराग	६७	१५
८२.	चिच्घवित	चिच्छक्ति	६९	२२
८३.	आन्मा	आत्मा	६९	२३
८४.	विषर्यो	विषयों	६९	३०
८५.	द्रण्टा	द्रष्टा	७०	१
८६.	वृत्त्बोिधयो:	वृत्तिबोधयो:	७०	१७
८७.	वेताओं	वेत्ताओं	७१	१२
८८.	सस्थित:	संस्थित	७१	२८
८९,	विमुक्तमोक्षार्य	विमुक्तमोक्षार्थं	७२	७
९०.	द्रष्टु स्वरूपे	द्रष्टु:स्वरूपे	७२	८
९१.	सुस्पष्ठ	सुस्पष्ट	७२	९
९२.	नैवधा	नैकधा	७२	१७
९३.	सुनिश्चिय	सुनिश्चित	७२	१७
९४.	विवेक्तु	विवेक्तुं	७२	२०
९५.	वृत्ति मिश्रणात्	वृत्तिमिश्रणात्	७२	२०
९६.	आत्मा तत्त्व	आत्मतत्त्व	७३	५
९७.	बत गया	बतलाया	७३	५
९८.	ज्योति:स्वरूण	ज्योति:स्वरूप	७३	१३
९९.	स्वय	स्वयं	७३	१५

क्रमांक	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
१००.	साक्षाम प्रकाशो	साक्षात्प्रकाशो	७३	१६
१०१.	साक्षत्त्	साक्षात्	७३	२४
१०२.	वृतियों	वृत्तियों	७३	२७
१०३.	द्वितीय पद	द्वितीय पाद	७४	१२
१०४	पणिामी	परिणामी	७४	१८
१०५	तस्माच्छुत्यादि	तस्माच्छ्रुत्यादि	७५	४
१०६.	जाग्रददेहेन्दिमार्थेम्य	जाग्रद्देहेन्द्रियार्थेभ्य	७५	५
१०७.	सुषंप्ती	सुषुप्तौ	७७	६
१०८	कभो	कभी	७९	१५
१०९.	विवेकख्यात्क	विवेकख्यात्यात्मक	८०	७
११०.	केवल्य	कैवल्य	८१	२३
१११.	दुःखभा दा	दुःखभागदा	८१	२६
११२.	होन	होने	८३	१२
११३.	उ द्रष्टा	उपद्रष्टा	८३	१४
११४.	अपके	अपने	८३	१८
११५.	समझन	समझने	८३	२०
११६.	साऽभ्युपगन्तव्या	सत्ताऽभ्युपगन्तव्या	८३ फु० नो० २	
११७.	शक के	शक्यते	८३ फु० नो० ३	
११८.	छिन्नब	छिन्नबन्धो	८३ फु० नो० ४	
११९.	तन्मात्रावास्यतः	तन्मात्रावस्थितः	८३ फु० नो० ५	
१२०.	सुखाक्घिय	सुखाधिक्य	८४	२४
१२१.	स्वप्सित	स्वेप्सित	८४	२९
१२२.	स्फूटम्	स्फुटम्	८६	९
१२३.	आत्मन्य—संयुतात्	आत्मन्यानन्दरूपत्वं निषेधाद् युक्तिसंयुतात्	८६	१०
१२४.	स्वामित्वरूपिणि	स्वाभित्वरूपिणीं	८७	२
१२५.	वुद्ध गत	वुद्धयादिगत	८७	११
१२६.	आनन्दाधाः	आनन्दाद्याः	८७	२७
१२७	वहुचिन्त्यमचित्तयन्	वहुचिन्त्यमचिन्तयन्	९०	५
१२८.	ततोच्छत्यमृतं	ततोऽच्छंत्यमृत	९०	७
१२९.	शान्त करक	शान्त करके	९०	२२
१३०.	शश्वच्ध्रुतिः	शश्वच्छ्रुतिः	९१	१७
१३१.	अपन	अपने	९२	१५
१३२.	देक	देकर	९३	अन्तिम
१३३.	अच्छेतनता	अचेतनता	९५	१६
१३४.	सांख्यु	सांख्य	९६	अन्तिम
१३५.	हेतुवा	हेतुवश	९७	१३

क्रमांक	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
१३६.	गेध	गन्ध	९७	३०
१३७.	जिस त्र	जिस पात्र	९७	अन्तिम
१३८.	परमात्पा	परमात्मा	९८	१८
१३९.	मनोमन्त्रि ष्यपंर्यन्ति	मनो मन्त्रिण्यपंर्यन्ति	९९	८
१४०.	युक्तमात्मान मावेदयति	युक्तमात्मानमावेदयति	९९	८
१४१.	एवे	एवं	१०३	१३
१४२	सघातात्मक	संघातात्मक	१०३	२०
१४३.	तस्याध्यक्ष	तस्याध्यक्षं	१०३	२६
१४४.	अध क्ष	अध्यक्ष	१०३	२९
१४५.	आत्मनत्व	आत्मतत्त्व	१०३	अन्तिम
१४६.	प्रति बिम्वाख्य	प्रतिबिम्वाख्य	१०३	२१
१४७.	आ मा	आत्मा	१०४	अन्तिम
१४८.	साक्षि व	साक्षित्व	१०४	अन्तिम
१४९.	पुमानदिश्यो	पुमानर्निर्देश्यो	१०५	९
१५०.	सूक्ष्मश्चकथ्यते	सूक्ष्मश्च कथ्यते	१०५	९
१५१.	अव्यक्त श्चोयते	अव्यक्तश्चोच्यते	१०५	१६
१५२.	राहु गृंहीतेन	राहुगृंहीतेन	१०५	१७
१५३.	सन पर	सब पर	१०७	१९
१५४	दलवृषि	दलवृत्तिषु	१०७	२३
१५५.	हेस	हंस	१०७	२४
१५६.	आसन्दानुज	आनन्दानुगत	१०७	२८
१५७.	आधिदैनिक	आधिदैविक	१०८	३
१५८.	साता हो	सोता हो	१०८	१७
१५९.	एतत्संख्यान्वित	एतत्संख्यान्वितं	१०८	२४
१६०.	मन्त्र	मन्त्रं	१०८	२४
१६१.	शरीर पी	शरीर रूपी	१०८	२५
१६२.	एव	एवं	१०८	२८
१६३.	कहन का भाव	कहने का भाव	१०८	२९
१६४.	आत्मा	आत्मा	१०९	१२
१६५.	निरश	निरंश	१०९	१३
१६६.	चिन्मात्रे	चिन्मात्रं	१०९	१६
१६७.	"अह"	"अहं"	१०९	१९
१६८.	सर्वनराधिय	सर्वनराधिप	१०९	२६
१६९.	भवन्युदासीनः	भवत्युदासीनः	१०९	३२
१७०.	विराधा	विरोधी	११०	१२
१७१.	के अनुसार था	के अनुसार तथा	११०	२२
१७२.	हरता है।	रहता है।	११०	अन्तिम

क्रमांक	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
१७३.	संसरित	संसरति	१११	१०
१७४.	ज्ञान क्रियते	ज्ञानं क्रियते	११२	१०
१७५.	एवे	एवं	११२	१६
१७६.	तत्त्वे	तत्त्वों	११२	१७
१७७.	वेद्यं	वेद्यं	११३	१४
१७८.	असप्रज्ञाते:	असम्प्रज्ञातः	११३	१४
१७९.	योगाचाय:	योगाचार्यैः	११३	२४
१८०.	चित्त्स्थैर्य्याय	चित्तस्थैर्य्याय	११४	९
१८१.	विघते	विद्यते	११५	२१
१८२.	पय्येन्त	पर्य्यन्त	११५	२१
१८३.		आत्यन्तिक	११४	२२
१८४.	नही हो के	नहीं होने के	११५	२३
१८५.	बीनावहनन	बीजावहनन	११५	२५
१८६.	प ुहिंसादि	पशुहिंसादि	११५	२५
१८७.	स्वरू ु	स्वरूपा	११५	२५
१८८.	सि ति	स्थिति	११५	२७
१८९.	मत्यंलो	मर्त्यलोकं	११५	२८
१९०.	स्कर्गकामो	स्वर्गकामो	११६	३
१९१.	सर्वं दुखं विवेकन	सर्वंदु:खंविवेकिनः	११६	२०
१९२	अर्था	अर्थात्	११७	५
१९३.	सुख	सुखं	११७	७
१९४.	सङ्क्षेपमसुख	सङ्क्षेप में सुख	११७	११
१९५.	लक्ष्य ही	लक्ष्य हो	११७	२९
१९६.	स्वंमेव	स्वयमेव	११८	११
१९७.	धारावल्पने	धाराकल्पने	११९	१२
१९८.	भावम	भावना	११९	अन्तिम
१९९.	सर्वंद्द ा	सर्वथा	१२०	३
२००.	निगुंर्ण	निर्गुणं	१२०	२४
२०१.	स्दाराज्य	स्वाराज्य	१२१	२२
२०२.	दृप्टयात:	दृष्ट्यातः	१२२	५
२०३.	वृष्टि से	दृष्टि से	१२२	९
२०४.	मत्तो तोऽलं	मत्तोऽतोऽलं	१२२	१९
२०५.	आप्मा	आत्मा	१२२	२०
२०६.	गूण	गुण	१२२	२८
२०७.	उ विशेषता	उस विशेषता	१२२	२९

क्रमांक	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
२०८.	विशेषता का	विशेषता की	१२२	३०
२०९.	लिंगशरीरावच्छेद कत्वेन	लिंगशरीरावच्छेदकत्वेन	१२२	अन्तिम
२१०.	कथँचिदपि	कथञ्चिदपि	१२६	२
२११.	मायायस्त्रेविध्यादामनोऽपि	मायायास्त्रैविध्यादात्मनोऽपि	१६२	४
२१२.	विमुक्त विभोक्षाथ स्वार्थं	विमुक्तविमोक्षार्थंस्वार्थं वा	१२६	२७
२१३.	अनुल्लघनीय	अनुल्लङ्घनीय	१२७	२३
२१४.	मन्तव्य श्चोपपत्ति भिः	मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः	१२७	२५
२१५.	स्वामिन दृष्टवा	स्वामिनं दृष्ट्वा	१२८	१४
२१६.	साक्षात्त्द्द्रष्टरि	साक्षात्त द्द्रष्टरि	१२९	६
२१७.	हो ा है;	होता है;	१२९	२०
२१८.	दुखाकार	दुःखाकार	१२९	३०
२१९.	साक्षिभूति	साक्षीभूत	१३०	७
२२०.	वाह्यन्तः	वाह्यान्तः	१३०	१३
२२१.	मात्र	मात्र है	१३०	२२
२२२.	प्रतिछायास्वरूपी	प्रतिच्छायास्वरूपी	१३०	२८-२९
२२३.	वस्तुततः	वस्तुतः	१३१	८
२२४.	सर्सार	संसार	१३१	१७
२२५.	ससार	संसार	१३१	२२
२२६.	आकाशादि मे	आकाशादि में	१३१	२६
२२७.	बृद्ध्यादौ	बुद्ध्यादौ	१३२	४
२२८.	अ ादि	अनादि	१३२	५
२२९.	प्रकर से	प्रकार से	१३२	८
२३०.	प्रोजा	प्रयोजन	१३२	१०
२३१.	रहो पर	रहने पर	१३२	१७
२३२.	निर्लिप्त हो े के	निर्लिप्त होने के	१३२	१९
२३३.	तह	तरह	१३२	२१
२३४.	असंगह्ययं	असङ्गो ह्ययं	१३२	२२
२३५.	दृष्ठि	दृष्टि	१३२	२४
२३६.	अर्थात	अर्थात्	१३३	५
२३७.	दृष्टि मैं	दृष्टि में	१३३	६
२३८.	सोती हैं	होती हैं	१३३	११
२३९.	दूथ	दूध	१३३	२०
२४०.	द्धारा	द्वारा	१३३	२६
२४१.	निर्लिप	निर्लिप्त	१३३	२८
२४२.	नैकधि	नैकविध	१३३	३२

क्रमांक	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
२४३.	परिभ्रमण	परिभ्रमण	१३३	३३
२४४.	असंघाताामक	असंघातात्मक	१३५	१८
२४५.	खोः	खो	१३६	२७
२४६.	प्रकार	प्रकार से	१३७	४
२४७.	वर्णतीत	वर्णनातीत	१३७	५
२४८.	दृशा	दृश्य	१३७	९
२४९.	वास्विक	वास्तविक	१३७	१५
२५०.	र्व्यथ	व्यर्थ	१३७	२१
२५१.	गृहण	ग्रहण	१३८	९
२५२.	अध्ययन न करके	अध्ययन करके	१३८	२४
२५३.	सही रूप	सही रूप में	१३९	१
२५४.	एतस्याभवस्थायां	एतस्यामवस्थायां	१३९	११
२५५.	हैं कि	है कि	१३९	३२
२५६.	अज्ञान जन्म	अज्ञानजन्य	१४०	२
२५७.	कैवल	कैवल्य	१४०	१४
२५८.	स्थितप्रज्ञव्यक्तिप्रवृष्ट	स्थितप्रज्ञव्यक्ति प्रकृष्ट	१४०	१८
२५९.	सम्पन्र	सम्पन्न	१४०	१९
२६०.	क्रांति	कान्ति	१४०	२४
२६१.	क्रांति	कान्ति	१४०	२६
२६२.	प्रमोद	प्रमाद	१४०	अन्तिम
२६३.	नैक विधि	नैकविध	१४०	अन्तिम
२६४.	वस्तओं में	वस्तुओं में	१४१	१
२६५.	सम्बन्ध रहता है	सम्बन्ध नहीं रहता है	१४१	२
२६६.	वा स ा	वासना	१४१	३
२६७.	उ यते	उच्यते	१४१	६
२६८.	मेरा कोई कोई	मेरा कोई	१४१	१४
२६९.	कर्त्तत्व	कर्त्तृत्व	१४१	३१
२७०.	नैकविधि	नैकविध	१४२	१५
२७१.	नैकविधि	नैकविध	१४२	१६
२७२.	आचारण	आचरण	१४३	१५
२७३.	करो की	करने की	१४४	३१
२७४.	साँसारिक	सांसारिक	१४४	३३
२७५.	गुरू	गुरु	१४४	३३